श्रीयुत सम्पादक जी
आर्य

समालोचनार्थ

अध्यात्म-ग्रन्थमाला प्रथम पुष्प

भगवद्गीता भाष्यम्

विवरणोपेतम्

भाष्यकार—

श्री पं० मुक्तिराम जी उपाध्याय

आचार्य, गुरुकुल पोठोहार

संवत् १९९२ विक्रमी

मूल्य सजिल्द २।)

प्रकाशक—

सदाशिव शर्मा

अध्यात्म-ग्रन्थमाला, गुरुकुल पोठोहार

पो० चोह्राखालसा, जि० रावलपिण्डी।

प्रथम संस्करण १०००

मुद्रक—

भीमसेन विद्यालङ्कार

नवयुग प्रिंटिंग प्रैस,

लाहौर।

ओ३म्

निवेदन

अध्यात्म-ज्ञान-पिपासु सज्जनों को विदित हो कि उनकी ज्ञान-पिपासा को लक्ष्य में रखते हुए ही हमने 'अध्यात्म ग्रन्थ-माला' का प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इस माला का प्रथम पुष्प 'भगवद्गीता भाष्य' स्वर्गीय श्री लाला हरीराम जी साहनी रावलपिण्डी निवासी की स्मृति में उनके सुपुत्रों श्री लाला रामलाल जी तथा ला० सीताराम जी की प्रदत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशित किया जा रहा है। इस माला का उद्देश्य धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के प्रतिपादक उच्च कोटि के ग्रन्थों का सुलभ मूल्य पर स्वाध्यायशील जनता के हाथों तक पहुँचाना है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक दर्शन-शास्त्र के पारदर्शी विद्वान् श्री पं० मुक्तिराम जी उपाध्याय हैं। जिन्होंने प्रबल युक्तियों द्वारा उपर्युक्त ग्रन्थ की अन्तरंग तथा बहिरंग परीक्षा करके ग्रन्थ के यथार्थ स्वरूप को विचारशील जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। गीता का यह विवेचन अपूर्व है। इसकी अपूर्वता और मौलिकता के कारण ही हम इसका प्रकाशन कर रहे हैं।

आशा है, सहृदय पाठक इसके स्वाध्याय से लाभ उठा कर हमारे परिश्रम को सफल करेंगे।

निवेदक—

सदाशिव शर्मा

विषय-सूची

कृपाराम ब्रदर्स फ़र्म के संस्थापक

स्वर्गीय लाला हरीराम जी साहनी, रावलपिंडी

❀ चित्र परिचयः ❀

सत्सन्ततिं सुधृति, मान मति प्रभावान्,
लेभे समं करुणया, रमया तथा यः ।
सोऽयं सदा प्रणत, दानि कुलावतंसः,
विभ्राजते सुयशसा, नु हरिः स रामः ॥

* * *

बुद्धि पौरुष के तथा, उत्साह के जो थे धनी,
सन्तान के निर्माण के, विज्ञान में थे अग्रणी ।
कर नम्रता से दान अरु, उपभोग साधु प्रकार से,
शिक्षा जगत को दे गये, धनके उचित उपचार से ।
शुभशील अरु सारल्य गुण, जिनके विमल अभिराम थे,
भेरा तथा पिण्डी निवासी, आप श्री हरि राम थे ॥

प्राक्कथन से गीता में प्रक्षेप तक,

१०८ पृष्ठों में संशोधन ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३	२०	थे	थीं
५३	१३	सभझ	समझ
६४	१३	श्लोक	श्लोक में
९१	३	१०-१३	१३-१०
९२	२	उपसहांर	उपसंहार
१०६	५	शणु	शृणु
,,	१५	पैंसठवें	बासठवें

सूचना—सृष्टि रचना के तीसरे प्रकार के विशेष वक्तव्य का समस्त तीसरा पैरा (२१ वें पृष्ठ में) निम्न प्रकार से पढ़ें—मधु नामक असुर को यदि उसी समय मार देना था तो उत्पन्न ही क्यों किया ?

गीता का विषय-विवेचन से गीता भाष्य तक,

२४२ पृष्ठों में संशोधन ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	४	भगवान्	भवान्
,,	१२	अन्य	अन्ये
६३	१४	दुःतरम्	दुःखतरम्
१४१	१६	निरोघ	निरोध
१५१	३	(अहम्) (का अर्थ) मैं	
१५२	७	यश्यात्मना	वश्यात्मना
१८१	१४	सञ्ज्ञाधते	सञ्जायते

प्राक्कथन, प्रस्तावना, भूमिका, महाभारत में प्रक्षेप, गीता में प्रक्षेप ।

॥ ओम् ॥

प्राक्कथन

संसार के साहित्य में बाईब्ल का कदाचित् सर्वाधिक प्रचार है, किन्तु उसका कारण उसकी अपनी अपूर्व विशेषता नहीं है। भिन्न-भिन्न ईसाई देशों की राज्य-शक्तियां एवं बाईब्ल सोसाइटियों का सतत अध्यवसाय तथा अदम्य उद्योग बाईब्ल को यह आसन दे सका है। इतना अधिक प्रचार होने पर भी बाईब्ल ईसा के अनुयायिवर्ग से बाहर कहीं भी अपना आदरपूर्ण आसपद नहीं बना सकी, अर्थात् आज तक किसी गैर-ईसाई ने बाईब्ल पर मोहित होकर उसका प्रकाशन नहीं किया। किन्तु यह भारतवर्ष के लिये अत्यन्त गौरव की बात है कि उसके पास आर्य्य-ऋषियों का दिया हुआ एक ऐसा रत्न है, जिसकी विमल आभा आर्य्य-अनार्य्य सबके हृदय को आकर्षित कर लेती है, जिसकी मोहकता का जादू सभ्य-असभ्य सभी पर अनायास चल जाता है। वह रत्न है—श्रीमद्भगवद्गीता। संसार की कोई ऐसी सभ्य भाषा नहीं, जहां गीता के एक से अधिक अनुवाद न हुए हों। अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, लाटिन, ग्रीक, स्लाव, स्पेनिश, पार्चुगीज़ आदि योरुप की विविध

भाषाओं में इसके विविध अनुवाद टीका-टिप्पण हैं। एशिया-महाद्वीप की भी सारी भाषाओं में इसके गद्य पद्य दोनों प्रकार के अनुवाद आदि हैं। गीता समस्त संसार का समादरणीय आध्यात्मिक गीत है। सुदूर पाताल देश के प्रख्यात दार्शनिक इमर्सन इस गीता-गङ्गा में नित्य मज्जन किया करते थे। इंग्लैण्ड के प्रौढ़ लेखक कार्लाइल की इस पर इतनी भक्ति थी कि अपने ज्ञान पिपासु मित्रों को शान्ति के लिए गीता दिया करते थे।

ऐसे ग्रन्थरत्न से आर्य्यसमाज का, जो इस समय भारत के समाजों का अग्रसर है, प्रभावित न होना, या इस ग्रन्थ को न अपनाना आश्चर्य की बात होती। आर्य्यसमाज अपने प्रारम्भ काल से ही इस ग्रन्थ की गौरवमय गरिमा को अङ्गीकार करता चला आ रहा है। ऋषि दयानन्द के शिष्य इटावा वासी पं० भीमसेन शर्मा जी ने पहले पहल गीताभाष्य रचा, उसके बाद अब तक अनेक आर्य्य विद्वानों ने गीता के भाष्य, प्रवचन आदि लिखे हैं। परन्तु गीता एक ऐसा हीरा है, जिस पर साम्प्रदायिक मल की एक प्रबल तह जम चुकी है। कोई चतुर शिल्पी ही इस तह को, मूल रत्न में से एक अणु को भी नष्ट किए बिना दूर कर सकता है। अब तक जिस जिस शिल्पी ने इसका मार्जन करना चाहा, इसे सान पर चढ़ाना चाहा, वह प्रायः इस रत्न के उद्गम स्थान, अनेक हीरक रत्नों की महान् खान—महाभारत—का अवलोकन किए बिना ही इसे सान पर चढ़ा देता था। जिससे

इस रत्न में कुछ न कुछ खनिज मल भी रह ही जाता था। और कुछ रत्न का अंश भी नष्ट हो जाता था। अब साहित्य-समाज के सौभाग्य से इस रत्न को एक चतुर शिल्पी मिला है, जो इसकी मूल-खान से केवल परिचित ही नहीं है, अपितु वह इसका भली भान्ति निरीक्षण भी कर चुका है। उस शिल्पी के पुरुषार्थ से गीता-रत्न बहुत कुछ अपनी वास्तविक आभा को प्राप्त कर सका है।

वे चतुर शिल्पी प्रायः पाठकों के परिचित ही हैं। आपका परिचय देना मानों सूर्य्य को दीपक दिखाना है। आप दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं। अन्य शास्त्रों में भी आपकी अप्रतिहत गति है। आप कवि भी हैं। आपका शुभ नाम आचार्य्य मुक्तिराम जी है।

आपने ऐसे ही अंट-संट ढङ्ग से गीता पर टीका नहीं की। आपने महाभारत की आलोचना करते हुए बड़ी सुन्दर रीति से महाभारत में आ पड़े कूड़ा-कर्कट का दिग्दर्शन कराया है। उसके बाद उससे निकले गीता-रत्न पर आई मलिनता का सप्रमाण निरूपण किया है। यह सब कुछ करते हुए पण्डित जी ने साम्प्रदायिक भावना के भूत को सर्वथा दूर रखा है। इसका प्रमाण पाठकों को स्थान-स्थान पर इस गीता भाष्य में मिलेगा। पण्डित जी के अर्थ करने तथा आशय स्पष्ट करने का प्रकार बहुत ही मनोहर है।

इससे पूर्व भी पण्डित जी ने 'सन्ध्या के तीन अङ्ग'

नामक अत्यन्त गवेषणापूर्ण एक लघु ग्रन्थ का निर्माण किया है जो कि प्रकाशित हो चुका है।

पण्डितजी ऐसे कृतविद्य ने अब जब लेखनी को व्यापृत करना आरम्भ किया है, तो अवश्यमेव आशा करनी चाहिए, कि साहित्य की श्री-शोभा में पर्याप्त वृद्धि होगी।

पण्डित जी के इस ग्रन्थ से गीता-भक्तों, गीता-आलोचकों, गीता के अनुशीलकों सभी को लाभ होगा।

—स्वामी वेदानन्दतीर्थ

❀ ओम् ❀

प्रस्तावना

यातं यस्तनिमानमेनमखिलं विश्वायुषः पर्यये ।
तन्तुं सृष्टिमयम्पुनर्वितनुते यज्ञाभिधंकेवलः ॥
कर्मैतत्खलुकामनाविरहितन्तस्यानिशं चिन्तयन् ।
आचर्तुम्प्रभवेयमित्यतितरामभ्यर्थये तम्प्रभुम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक भाष्य लिखे गये हैं । प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी प्रकार के विद्वानों ने गीता के अभिप्राय को प्रकट करने के लिये, अपनी अपनी लेखनी का कौशल दिखाया है। लेखनकला-कुशल इन गम्भीर विद्वानों के भाष्यों की विद्यमानता में यद्यपि मेरे इस साधारण से लेख की कुछ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, परन्तु फिर भी, "हृदय के उद्गारों को छिपाना पाप है" यह भाव कुछ लिखने की प्रेरणा कर ही रहा है ।

गीता का स्वाध्याय करते हुए, गीता में पर्याप्त संख्या में प्रक्षिप्त श्लोक प्रतीत हुआ करते थे । इन प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण गीता में से किसी एक निर्णीत सिद्धान्त को ढूँढ निकालना भी कठिन हो जाता था । साम्प्रदायिक लोगों के

जितने भाष्य पढ़े, सब में गीता के कुछ अंशों को ठोक-पीट और खींच-तान कर, अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने की चेष्टा पाई गई। लोग कर भी क्या सकते थे। वर्तमान गीता में कई प्रकार के दार्शनिक विचार मिलते हैं। इनमें से किसी एक विचार को पुष्ट करने के लिये, उसके विरुद्ध दूसरे विचार का गला घोट कर सीधा करना उस विचारक के लिये अनिवार्य ही था। यद्यपि इस प्रकार की छीना-झपटी का बाज़ार गरम था। और इसमें कारण थे वे ही प्रक्षिप्त श्लोक। परन्तु जिस गीता को अनेक विद्वानों ने इसी रूप में यथार्थ माना हो, उसके विषय में सहसा कुछ लिखने का कितने ही दिनों से विचार होते हुए भी साहस नहीं हुआ।

इसी अवसर में लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य पढ़ते हुए निम्न पंक्तियें सामने आईं—

"वर्तमान गीता को महाभारतकार ने पहिले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है। नई रचना नहीं की है। तथापि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारत-कार ने कुछ भी हेर-फेर न किया होगा।" (गी० र० पृ० ५२५) इन पंक्तियों में मुझे अपने विचार के लिये कुछ आश्रय दीख पड़ा, और कुछ लिखने के लिये हृदय में उत्साह को जन्म मिला।

'राव बहादुर चिन्तामणि राव वैद्य' ने महाभारत के

तीन कर्ता माने हैं, व्यास, वैशम्पायन और सौति। उनके विवेचन के अनुसार व्यास जी ने जय नामक ग्रन्थ बनाया था। उसके श्लोकों की कितनी संख्या थी, यह निश्चय करने के लिये कोई आधार न मिलने पर इसके बारे में उन्होंने अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं की। इसके बाद उसमें वैशम्पायन ने कुछ बढ़ाकर उसे भारत नाम दिया। उनके भारत की श्लोक संख्या वैद्य जी ने २४००० मानी है। उनका यह अनुमान आदि पर्व में लिखी सौति की अनुक्रमणिका के आधार पर है। वहां भारत-संहिता की श्लोक संख्या २४००० बतलाई गई है। और शेष ७६००० आख्यानों के श्लोक बतला कर सम्पूर्ण महाभारत की एक लाख श्लोक संख्या लिखी है। वैद्य जी का अनुमान है कि ये ७६००० श्लोक सौति ने रचकर मिलाये, और तब से ही बड़ा होने के कारण इसका नाम महाभारत हुआ। यद्यपि महाभारत के शब्दों से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये ७६००० श्लोक सौति के बनाये हुए हैं। वहां तो विषय विभाग के ढङ्ग से आख्यानों और संहिता की संख्या को अलग-अलग किया प्रतीत होता है। परन्तु २४००० श्लोकों के भारत संहिता नाम, और भाषा तथा भाव आदि के भेद को देखकर उन्होंने ऐसा अनुमान किया है।

यद्यपि वैद्य जी ने वैशम्पायन को व्यास का साक्षात् शिष्य नहीं माना। क्योंकि वैशम्पायन सर्प-सत्र के समय जनमेजय के काल में थे। और व्यास जी का काल महा-

भारत काल है। इसलिये उनकी धारणा है कि वैशम्पायन व्यास जी की शिष्य परम्परा में होंगे। परन्तु महाभारत में उन्हें व्यास जी का साक्षात् शिष्य ही लिखा है। यहां तक लिखा है कि सुमन्तु, जैमिनि, पैल, शुकदेव और वैशम्पायन, पर्वत पर व्यास जी से वेद पढ़ा करते थे। और उन्हीं की आज्ञा से वेदों का विस्तार करने के लिये नीचे उतरे। यह भी सम्भव है कि व्यास जी के समय के और जनमेजय के समय के वैशम्पायन भिन्न हों। अस्तु जो भी हो, साक्षात् या परम्परा से वैशम्पायन का व्यास जी से गुरु-शिष्य सम्बन्ध अवश्य था। (आ० प० ६३। ६०) में यह भी लिखा है कि इन पांचों शिष्यों ने व्यास जी से महाभारत पढ़कर पांच भारत संहिताओं की रचना की। यह सम्भव है कि शेष चार संहिताएँ लुप्त हो गई हों, और वैशम्पायन की भारत संहिता शेष रह गई हो। परन्तु फिर भी शिष्य होने के कारण वैशम्पायन की भारत संहिता का आधार व्यास जी का भारत ही रहा होगा। इसलिये व्यास जी के और वैशम्पायन के ग्रन्थ में मतभेद का होना सम्भव नहीं। वैशम्पायन के ग्रन्थ में वेदों और उपनिषदों से भी मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने वेदों को पढ़कर ही संहिता की रचना की है। हां सौति एक कथा-वाचक थे। महाभारत के सब आख्यान उन्हीं के लिखे हुए माने जाते हैं इसलिये यह सम्भव है कि श्रोताओं के मनोरञ्जन के लिये आख्यानों की रचना करते हुए सिद्धान्त का ध्यान न

रक्खा गया हो । श्रोताओं के तत्काल किये हुए प्रश्नों का उत्तर देते समय भी ऐसी त्रुटियों का हो जाना सम्भव है । परन्तु महाभारत में तो विरोध ऐसे स्थानों पर भी मिलता है, जो न तो सौति के दिये हुए प्रश्नों के उत्तर ही हैं, और न आख्यान ही। ऐसे पूर्व पर विरोधों को और शास्त्र विरोधों को सौति के ही कहने के लिये भी कोई प्रमाण नहीं। अतः विवश यह ही कहना पड़ेगा कि विभिन्न कालों में साम्प्रदायिक लोगों ने भी प्रक्षेप किये हैं । ऐसा भी प्रतीत होता है कि लोग महाभारत में जहां अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, अपने प्रतिकूल विचारों को वे निकालते भी रहे हैं। यही कारण है कि सौति के काल से अब तक महाभारत की श्लोक-संख्या में वृद्धि नहीं हुई। 'महाभारत से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं' इसमें प्रमाण महाभारत की आज कल की श्लोक-गणना है। सौति ने महाभारत की श्लोक-संख्या एक लाख लिखी है। परन्तु वर्तमान महाभारत में इस संख्या की अपेक्षा १५००० और ४००० के बीच श्लोक कम हैं क्योंकि कुम्भघोण संस्करण में लगभग ९६००० श्लोक हैं, और कलिकाता संस्करण में ८५००० श्लोक। इस संख्या की कमी से स्पष्ट है कि महाभारत में से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं।

महाभारत में प्रक्षेप की इस भरमार को देख कर मेरी यह धारणा और भी दृढ़ होगई कि वर्तमान गीता में समय समय पर श्लोक मिलाये जाते रहे हैं । और अपनी इस

धारणा के दृढ़ हो जाने पर ही भूमिका की ये कुछ पंक्तियें लिखने का साहस किया है जो कि पाठकों के सामने हैं।

सम्पूर्ण महाभारत के प्रक्षेप का विवरण इस छोटी-सी पुस्तक की भूमिका में लिखा नहीं जा सकता। इस लिये महाभारत के शान्ति-पर्व में से एक ही प्रकरण "सृष्टि रचना-क्रम" के प्रक्षेप का ही दिग्दर्शन कराने की यहां चेष्टा करूँगा। और यह भी इस लिये कि पाठक इस निर्णय पर पहुँच सकें कि गीता ही में नहीं सारे ही महाभारत में पर्याप्त मात्रा में प्रक्षेप है।

इसके बाद गीता के प्रक्षेप का स्पष्टीकरण किया जावेगा। शेष गीता के श्लोकों का अर्थ भी आर्य-भाषा में लिखकर इस भूमिका के साथ ही प्रकाशित कर दिया जावेगा। प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण गीता के अध्यायों का विषय-विभाग भी सङ्कीर्ण सा होगया था। जैसे कि दूसरे अध्याय के विषय का नाम साङ्ख्ययोग था। परन्तु उसमें साङ्ख्ययोग और कर्मयोग दोनों विषय आ गये हैं। इस लिये शेष मूल-गीता का विषय-विभाग भी अध्यायों के अनुसार कर दिया गया है।

गीता के उपदेशक योगिराज कृष्ण, और गीता के सम्पादक वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास के लिये मेरे हृदय में अगाध श्रद्धा और प्रेम है। मैं समझता हूँ कि योगिराज कृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में, पुनरुक्ति और विरोध ढूँढने पर भी नहीं मिलने चाहियें। और फिर उस

उपदेश के व्यास जी जैसे गम्भीर सम्पादक द्वारा सम्पादित होने पर तो उसमें और भी सोने में सुगन्धि आ जानी चाहिये। परन्तु फिर भी वर्तमान गीता में ये दोष दृष्टिगोचर होते हैं। और इन दोषों से गीता को बचाने के लिये उसमें से प्रक्षिप्त भाग को पृथक् कर देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। इसलिए यद्यपि यह साहस है, परन्तु फिर भी भक्तिभावना से प्रेरित होकर, जिन भागों को मैंने प्रक्षिप्त समझा, उन्हें गीता से पृथक कर ही दिया है। मेरे इस विवेचन में कितनी ही ऐसी त्रुटियें होंगी जिनका कि मुझे ज्ञान भी न होगा। अतः मैं नत मस्तक होकर कृपालु विद्वानों की सेवा में प्रार्थना करता हूँ कि उन त्रुटियों से मुझे सूचित कर अनुगृहीत करें, जिससे कि भविष्य में संशोधन किया जा सके। जो कुछ मैंने लिखा है, उस सब का आधार तर्क है। यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि जिसे मैंने प्रक्षिप्त कहा है गीता में वह ही प्रक्षिप्त भाग है और नहीं। और यह भी दावे से नहीं कहा जा सकता कि यह प्रक्षिप्त भाग सारा ही प्रक्षिप्त है। यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि गीता के सदा से ये अठारह ही अध्याय थे जो कि आजकल गीता में हैं। क्योंकि वैष्णव सम्प्रदाय जिसकी कि ओर से गीता में प्रक्षेपों की विशेष भरमार है, महाभारत के समय में था ही नहीं। और वैष्णव सम्प्रदाय का प्रक्षेप निकाल देने पर गीता में अठारह अध्याय शेष रह ही नहीं जाते। और यह भी निश्चय पूर्वक कह नहीं सकते कि विषय

विभाग के अनुसार जिन अठारह अध्यायों को हमने शेष रख लिया है, वही उसी प्रकार आरम्भ की गीता में होंगे। वर्तमान गीता की पूर्व पर सङ्गति को देखकर तर्क के आधार पर जैसा हमें जँचा वैसा ही लिख दिया है। इसी कारण से ऊपर लिखा निवेदन विद्वानों की सूचना के लिये कर दिया है। सहृदय पाठक उस पर ध्यान देंगे यह पूर्ण आशा है।

विद्वानों का अनुचर—

मुक्तिराम उपाध्याय
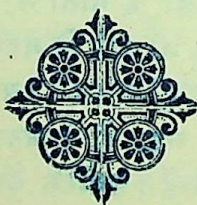
❀ ओ३म् ❀

भूमिका
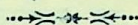
यह मान लिया गया है कि महाभारत वेदव्यास, वैशम्पायन और सौति तीन विद्वानों की रचना है। यह भी निश्चित है कि गीता महाभारत का ही अङ्ग है। और यह भी निर्णय स्वीकार कर लिया गया है, कि गीता के उपदेशक योगिराज कृष्ण, और उनके विचारों को ग्रन्थ का रूप देने वाले महर्षि वेदव्यास हैं। हमारी धारणा है कि वर्तमान महाभारत और गीता जैसे व्यास जी की लेखनी से निकले थे, वैसे ही आज हमारे सामने नहीं हैं। उनमें कितने ही प्रक्षेप और बहिष्कार मध्यकाल में किये गये हैं। बहिष्कार किस विषय, और किन श्लोकों का किया गया है, इसका पता लगाना असम्भव है। हां प्रक्षेप के लिये वर्तमान ग्रन्थ में से ही कुछ आधार ढूँढ निकाले जा सकते हैं। गीता के प्रक्षेप को युक्ति-युक्त सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि गीता जिस महाभारत का अङ्ग है, उस में भी पहिले युक्ति और प्रमाणों से प्रक्षेप सिद्ध किया जावे। इसके अनन्तर ही गीता में प्रक्षेप का सिद्ध करना युक्ति-युक्त होगा। इसी दृष्टि से हम यहां पहिले महाभारत

के शान्ति पर्व में से एक ही प्रकरण 'सृष्टि-रचनाक्रम' को उद्धृत कर उसमें से बहुत से अंश को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का यत्न करेंगे।

शान्ति-पर्व में सृष्टि-रचना क्रम का प्रसङ्ग ६ विभिन्न स्थानों पर आया है। उन सारे ही प्रसङ्गों को पाठकों के सुभीते के लिये पहिले हम महाभारत से उद्धृत करेंगे। प्रत्येक प्रसङ्ग के साथ ही अपने विशेष वक्तव्य में, उन प्रसङ्गों के पूर्व पर विरोध, और उपक्रम उपसंहार आदि के दोष भी प्रकट कर दिये जावेंगे। और अन्त में सामान्य विवेचन से यह निर्णय कर दिया जावेगा कि इन नौ में से कौन से आठ प्रसङ्ग प्रक्षिप्त हैं, और कौन-सा मूल महाभारत का है।

* ओम् *

महाभारत में प्रक्षेप

सृष्टि रचना प्रकार संख्या १।

ऋषि भरद्वाज को भृगु का उपदेश।

महाभारत शान्तिपर्व अ० १८०।

प्रकृति से परे, निर्लेप और व्यापक भगवान् ने, सृष्टि-रचना की इच्छा होने पर, अपने हज़ारवें अंश से पुरुष को उत्पन्न किया। इसे ऋषियों ने मानस आदि पुरुष कहा है। उस अनादि, अविनाशी, अजर, अमर देव ने पहिले महान् को उत्पन्न किया। महत् से अहङ्कार को, अहङ्कार से आकाश को, आकाश से जल को और जल से अग्नि तथा वायु को उत्पन्न किया। फिर अग्नि और वायु के संयोग से पृथिवी उत्पन्न हुई और इसके बाद स्वयम्भू ने दिव्य तेजोमय पद्म उत्पन्न किया। उस पद्म से वेदों का कोष ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। इसका अहङ्कार नाम है। यह सब भूतों का उत्पन्न करने वाला है। पांच धातुएँ ही ब्रह्मा है। उसकी हड्डी–पर्वत, मेदा और मांस–पृथिवी, समुद्र–रक्त, आकाश–पेट, वायु–निश्वास, तेज और अग्नि नाड़ियें, सूर्य और चन्द्रमा नेत्र, ऊपर का आकाश शिर, पृथिवी पैर और दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं। इसी ने अहङ्कार और सब भूतों को उत्पन्न किया।

विशेष वक्तव्य।

इस प्रक्रिया में अपने हज़ारवें अंश से भगवान् ने जिस आदि पुरुष को उत्पन्न किया वह कौन है? इसका पता नहीं चलता। निबन्ध के लेखक ने आगे चलकर, इस पुरुष से महत् से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्वों की रचना कराई है। इसलिए सृष्टिकर्ता होने से यह पुरुष ब्रह्मा होना चाहिए। परन्तु आगे चलकर पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है, इसलिए यह पुरुष ब्रह्मा भी नहीं हो सकता। विष्णु भी इसे कह नहीं सकते क्योंकि विष्णु भगवान् से विष्णु की ही उत्पत्ति कहने का कोई अर्थ नहीं।

पद्म से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा का नाम आगे चलकर अहङ्कार कहा है। इस अंश में रचना का यह प्रकार अध्याय ३२७ सं० ८ के रचना प्रकार से मिलता है। परन्तु इसका और कोई भी भाग, उसके साथ या किसी अन्य प्रक्रिया के साथ नहीं मिलता। उस प्रक्रिया में अहङ्कार से पांचों भूतों की उत्पत्ति मानी गई है और यहां केवल आकाश की। इस प्रक्रिया में आकाश से जल की, जल से अग्नि और वायु की, तथा अग्नि और वायु के संयोग से पृथिवी की उत्पत्ति मानी गई है। परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् में, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के क्रम से भूतों की उत्पत्ति मानी गई है। इसलिए यह प्रक्रिया उपनिषद् के विरुद्ध है।

आगे चलकर पांच धातुओं के समुदाय को ब्रह्मा कहा

है। परन्तु धातुएँ, हड्डी, मेदा, मांस और रक्त चार ही गिनाई हैं।

और भी आगे चलकर, इसी ब्रह्मा के सूर्य और चन्द्रमा नेत्र, ऊपर का आकाश शिर, पृथिवी पैर और दिशाएँ भुजाएँ बतलाई हैं। यह विराट् रूप हड्डी मांस आदि धातुओं से बने हुए ब्रह्मा का नहीं हो सकता।

पहिले से वर्णन तो ब्रह्मा का करते चले आ रहे थे और अन्त में उपसंहार करते हुए यह लिख दिया, "ऐसा यह अनन्त भगवान् विष्णु है।" कितना असम्बद्ध वर्णन है?।

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या २।

मेरुपर्वत पर ब्रह्मा का भृगु को उपदेश।

महाभारत शा० प० अ० १८१

पहिले आकाश, शब्द के बिना, निश्चल, चन्द्रमा सूर्य और वायु से रहित सोया हुआ जैसा था। उस से जल उत्पन्न हुआ। यह ऐसा ही दृश्य था, जैसे कि एक अन्धकार में दूसरा अन्धकार आगया हो। उस जल के ही भण्डार से वायु उत्पन्न हुआ। फिर उस जल और वायु के सङ्घर्ष से, चमकता हुआ, अन्धकार को दूर करता हुआ, अग्नि उत्पन्न हुआ। अग्नि से मिला हुआ वायु, आकाश से जो जल फेंकने लगा, और उसका आकाश से गिरता हुआ जो स्नेह एक जगह ठहर गया, वह ही कठिन होकर पृथिवी बन

गया। सब रसों, गन्धों, स्नेहों और प्राणियों को उत्पन्न करने वाली यह पृथिवी ही है।

विशेष वक्तव्य।

१. इस प्रक्रिया में महत् और अहङ्कार के क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कही। इस के लिये यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि-रचना का आंशिक (एक भाग का) वर्णन होगा। आंशिक वर्णन भी कई स्थानों पर मिलते हैं। जैसे कि "तैत्तिरीय उ० ब्रह्मानन्दवल्ली अ० १" में पहिले-पहिले आकाश की उत्पत्ति बतला कर यहां से ही सृष्टि-रचना का क्रम चलाया गया है।

२. इस प्रक्रिया में प्रलय में आकाश का संहार नहीं माना। आकाश तत्व को शेष रख लिया गया है। यह विचार वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है, "ऋग्वेद मं० १० सूक्त १२९ मं० १" में "नोव्योमापरोयत्" (उस समय आकाश भी नहीं था) यह प्रकट किया गया है। और "तैत्तिरीय उ० ब्र० व० अ० १" में भी "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) यह कहा गया है। इन प्रमाणों से यह समझ में आजाता है कि वेद और उपनिषद्, प्रलय में आकाश को बचा हुआ नहीं मानते। इस लिये इस रचना के प्रकार को वेद और उपनिषद् के विरुद्ध कहना ही पड़ेगा।

३. इस प्रक्रिया में आकाश से जल की और जल से वायु की उत्पत्ति कही है। परन्तु "तै० उ० ब्र० व० अ० १"

में आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की और अग्नि से जल की उत्पत्ति कही है। इस लिये भी यह क्रम उपनिषदों के विरुद्ध है।

सृष्टि-रचना का प्रकार संख्या ३।

राम, परशुराम, नारद, व्यास, असित, देवल और वाल्मीकि का संवाद भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनाया।

महाभारत शां० प० अ० २०६

पुरुषोत्तम भूतात्मा ने वायु, अग्नि, जल, आकाश और पृथिवी इन महाभूतों को उत्पन्न किया। पृथिवी को पैदा करने के बाद वह भगवान् जल में सोगया। उसने मन से सब भूतों में श्रेष्ठ सङ्कर्षण का स्मरण किया। उस चिन्तन के बाद उससे सब तेजों का प्रकाश करने वाला प्रद्युम्न उत्पन्न हुआ। जल में योग निद्रा में सोये हुए महाराज ने; संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के करने वाले, ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीन देव उत्पन्न किये। उस महापुरुष की नाभि में सूर्य की तरह का विचित्र कमल पैदा हुआ। उस कमल से दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होने के बाद तमोगुण की महिमा से मधु नाम का असुर पैदा हुआ। उसे पैदा होते को ही पुरुषोत्तम ने मार दिया, और इसी लिये भगवान् को, देवता, राक्षस और मनुष्य सब मधुसूदन कहने लगे।

ब्रह्मा के, दक्ष, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु सात पुत्र हुए। ये सब उसकी मानस सन्तान थे। मरीचि से कश्यप और दक्ष से १३ कन्याएँ उत्पन्न हुई। उन कन्याओं में सब से बड़ी दिति थी। इन तेरहों कन्याओं के पति कश्यप हुए। दक्षने उनसे छोटी दश कन्याएँ और उत्पन्न की, और वे धर्म को देदी। धर्म के आठ पुत्र, रुद्र, विश्वेदेव, साध्य और मरुत्वान् उत्पन्न हुए। दक्षने उनसे छोटी २७ कन्याएँ और उत्पन्न की, और वे सोम को देदीं। औरों से, गन्धर्व, घोड़े, पक्षी, गौ, किम्पुरुष, मछलियें, वृक्ष, और वनस्पति ये सब उत्पन्न हुए। आदित्य नामक श्रेष्ठ देवताओं को अदिति ने उत्पन्न किया। उनमें से, विष्णु जिनके वामन और गोविन्द भी नाम हैं, प्रधान हुए। उस विष्णु के पराक्रम से देवताओं की लक्ष्मी बढ़ी, दानवों और दिति की आसुरी प्रजा का पराभव हुआ। दानवों को दनु ने और असुरों को दिति ने पैदा किया था। इसके बाद मधुसूदन ने, मृत्यु और दिन, रात, दिन के पहिले भाग, दूसरे भाग तथा ऋतु काल को उत्पन्न किया। उसी भगवान् ने जल से मेघों और स्थावर जङ्गमों को उत्पन्न किया। इसी प्रकार विशाल तेज से युक्त पृथिवी को उत्पन्न किया। फिर कृष्णने मुख से सौ ब्राह्मण, भुजाओं से सौ क्षत्रिय, जङ्घाओं से सौ वैश्य और पैरों से सौ शूद्र उत्पन्न किये, और इन सब का अधिष्ठाता, ब्रह्मा को बनाया। उसने भूत और मातृगण

के स्वामी विरूपाक्ष को तथा कुबेर, वरुण और इन्द्र को उत्पन्न किया। इन सब में महेन्द्र को राजा बनाया। उस समय लोगों को जब तक शरीर रखने की इच्छा होती थी जीते रहते थे। मृत्यु का डर नहीं था। सतयुग और त्रेता में मैथुन धर्म नहीं था। सतयुग में सङ्कल्प से ही और त्रेता में छूने मात्र से सन्तान पैदा हो जाती थी। द्वापर में मैथुन धर्म का आरम्भ हुआ है।

विशेष वक्तव्य।

१—इस सृष्टि रचना के प्रकार में, भूत-सृष्टि के बाद महत् और अहङ्कार की सृष्टि बतलाई गई है। यह रचना-क्रम, वेद, उपनिषद् और स्मृति इनमें से किसी के भी रचना-क्रम के अनुकूल नहीं।

२—विष्णु ही जल में सोये हुए थे, उनसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों की उत्पत्ति, इस रचना-क्रम में कही है। विष्णु से ही विष्णु की उत्पत्ति कहना युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। और फिर आगे चल कर इसी प्रकरण में दूसरी बार अदिति से भी विष्णु की उत्पत्ति कही गई है। दो बार उत्पत्ति क्यों ?।

३—दनु ने दानवों को उत्पन्न किया, दनु कहां से आ-गया इसका कोई पता नहीं।

४—दक्ष ने १० कन्याएँ धर्म को और २७ कन्याएँ सोम को दीं। धर्म और सोम कहां से उत्पन्न हुए इसका कोई पता नहीं।

५—काल की उत्पत्ति के बाद यहां, जल से, मेघों, स्थावर जङ्गमों और विशाल तेज से युक्त पृथिवी की उत्पत्ति कही है। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में भी पांच भूतों की रचना महाराज कर चुके हैं, जिन में कि पृथिवी भी आ गई है।

६—दक्ष, मरीचि, अत्रि आदि मनुष्यों, रुद्र विश्वेदेव आदि देवताओं, दैत्यों और दानवों की उत्पत्ति पहिले कह चुके हैं। कश्यप आदि ऋषियों के साथ दक्ष की कन्याओं का विवाह होने के बाद योनिज सृष्टि का आरम्भ भी हो चुका है। इसके बाद अब फिर कृष्ण के, मुख से सौ ब्राह्मणों, भुजाओं से सौ क्षत्रियों, जङ्घाओं से सौ वैश्यों और पैरों से सौ शूद्रों की अयोनिज सृष्टि का प्रसङ्ग, कहां तक युक्ति सङ्गत है, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें।

७—इस निबन्ध में लिखा है कि सतयुग में मृत्यु का भय नहीं था। परन्तु इससे पहिले दैत्यों की उत्पत्ति के बाद मृत्यु की उत्पत्ति कर दी गई थी। और मृत्यु की उत्पत्ति से तात्पर्य है, लोगों का इस लोक से परलोक चला जाना। इस लिये उस समय मृत्यु का भय नहीं था, यह कथन न्याय के अनुकूल नहीं है।

८—इस लेख में कहा है कि सतयुग और त्रेता में मैथुन धर्म नहीं था। सतयुग में सङ्कल्प से ही और त्रेता में छूने मात्र से सन्तान पैदा हो जाती थी। यह प्रसङ्ग हरिश्चन्द्र आदि की कथाओं, और त्रेतायुग के रामायण के इतिहास से सर्वथा विरुद्ध है।

सृष्टि-रचना प्रकार सं० ४ ।

व्यास जी का शुकदेव जी को उपदेश ।

म० भा० शा० प० अ० २३८

सृष्टि के आरम्भ में अजर अमर परब्रह्म और त्रिगुणात्मक प्रधान थे। इस प्रधान के ही वैष्णवी प्रकृति महामाया आदि नाम हैं। यह सत्व, रज और तम इन तीन गुणों का समुदाय ही है।

अनेक प्रकार के जीवों को कर्मभोग देने के लिये इस का प्रादुर्भाव हुआ है। भगवान् का समीप होना ही इस में क्षोभ (हरकत) पैदा करने के लिये पर्याप्त है। भगवान् ने उसे उत्पत्ति के अनुकूल बनाते हुए उसमें प्रविष्ट होकर, क्षोभ उत्पन्न किया। क्षोभ होने पर उस प्रकृति से महान् की उत्पत्ति हुई। इस तत्व को बड़ा होने के कारण ही महान् कहते हैं। इस में भी सत्व रज और तम तीनों गुणों का मेल है। इस महान् को भी चारों ओर से प्रकृति ने व्याप्त कर लिया। और उसके प्रभाव से उस महान् से सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी तीन प्रकार का अहङ्कार पैदा हुआ। इनमें से तमोगुणी अहङ्कार से शब्द तन्मात्रा और उससे आकाश, आकाश से स्पर्श तन्मात्रा और उससे वायु, वायु से रूप तन्मात्रा और उससे अग्नि, अग्नि से रस तन्मात्रा और उससे जल उत्पन्न हुआ। जल से गन्ध तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, और फिर वह जल धीरे २ बरफ़ की तरह जम

कर कठिन होता हुआ पृथिवी बन गया । इस प्रकार इन पांच भूतों की उत्पत्ति हुई। इन भूतों की ही परस्पर मेल से उत्पन्न हुई विशेष अवस्था का नाम अन्न है। ग्यारह इन्द्रियें और मन ये देवता तैजस हैं। इन सब परिवर्तनों में अनेक भेदों में बँटा हुआ काल भी कारण है। गुण भेद से परमात्मा के भी तीन रूप और क्रियाएँ हैं। सृष्टि की रचना करने वाला होने से उसे ब्रह्मा, पालन करने वाला होने से विष्णु और संहार करने वाला होने से शिव कहते हैं।

विशेष वक्तव्य ।

सृष्टि रचना की इस प्रक्रिया में ग्यारह इन्द्रियों और मन को तैजस (तेज से पैदा होने वाले) कहा है। तेज के दो काम हैं प्रकाश और प्रवृत्ति। और इन्द्रियें भी प्रकाश और प्रवृत्ति के ही करने वाली हैं। कर्म इन्द्रियें प्रवृत्ति (कर्म) करने वाली हैं, और ज्ञान इन्द्रियें तथा मन प्रकाश (विषयों का ज्ञान) करने वाली हैं। प्रकाश और प्रवृत्ति सत्वगुण और रजोगुण के काम हैं। इसलिये कर्म इन्द्रियों में रजोगुण और ज्ञान इन्द्रियों में सत्वगुण प्रधान समझना चाहिये। पहिले तमोगुण प्रधान अहङ्कार से पांचों भूतों की उत्पत्ति कह आये हैं। रजोगुणी और सत्वगुणी अहङ्कार शेष है, उस का कोई कार्य अभी तक नहीं बतलाया गया। इसलिये रजोगुणी अहङ्कार का कर्म इन्द्रियें, और सत्वगुणी अहंकार का ज्ञान इन्द्रियें तथा मन कार्य समझने चाहियें। व्यास जी ने इन की उत्पत्ति इकट्ठी ही कही है इसलिये इन्हें

एक "तैजस" शब्द से ही कहा गया। उनकी पहिली प्रक्रिया के अनुसार, उन के इस शब्द का ऊपर लिखा अर्थ अनायास समझ में आजाता है।

इस प्रक्रिया में ब्रह्मा, विष्णु और शिव कोई शरीर धारी देव प्रकट नहीं किये गये। यहां पर गुण-कर्म के भेद से एक ही परमात्मा के ये सब नाम कहे गये हैं।

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ५।

देवल और नारद का संवाद।

महा० शा० प० अ० २८१

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच महाभूत हैं। आत्मा से प्रेरित हुआ २ काल इन पांचों से ही प्राणियों को उत्पन्न करता है। जो इससे अधिक कहता है वह झूठ कहता है। हे नारद! काल को और इन पांचों भूतों को, सदा रहने वाले, अविनाशी और स्थिर समझो। ये सब महान् तेज की राशि हैं, और स्वभाव से ही ऐसे हैं। जल, आकाश, पृथिवी, वायु और अग्नि इन पांच भूतों से परे किसी की, न प्रमाण से और न युक्ति से ही सिद्धि हो सकती है, इसमें कोई संशय नहीं। मनुष्य का शरीर पृथिवी से, श्रोत्र आकाश से, चक्षु सूर्य से, प्राण वायु से, और खून पानी से बना है।

विशेष वक्तव्य ।

इस प्रक्रिया में प्रकृति, महत् और अहङ्कार के क्रम से सृष्टि का आरम्भ नहीं किया गया। महाभूतों से सृष्टि का आरम्भ किया गया है। परन्तु उन महाभूतों को भी स्थिर, अविनाशी और सदा स्वभाव से ही ऐसे रहने वाले माना गया है। यदि इन्हें स्थिर और स्वभाव से ही सदा रहने वाले न माना गया होता और प्रलय काल में नष्ट हो कर, सूक्ष्म रूप में जा कर, पृथिवी के जल में, जल के अग्नि में, अग्नि के वायु में, और वायु के आकाश में लीन हो जाने का निर्देश किया गया होता, तो इसे भी वैशेषिक और न्याय के ढङ्ग की, आंशिक (एक भाग की) सृष्टि रचना का नाम दिया जा सकता था। परन्तु यहां ऐसा नहीं किया गया। इस लिये इस प्रक्रिया को आंशिक नहीं माना जा सकता। इस प्रक्रिया में निम्न दोष हैं।

१—यहां भूतों को स्थिर और अविनाशी माना गया है परन्तु वेद इन सब का प्रलय के समय अभाव मानते हैं। प्रमाण के लिये देखिये "ऋग्वेद, मण्डल १० सूक्त १२९।"

२—भूतों का प्रलय काल में स्थिर रहना उपनिषद् नहीं मानते परन्तु इस प्रक्रिया में माना गया है। देखिये—"तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली अ० १"।

३—इस प्रक्रिया में यह कहा गया है कि भूतों से परे कुछ नहीं है। परन्तु भूतों से परे भी सृष्टि विज्ञान के विद्वान्

कपिल और मनु अहङ्कार, महत् और प्रकृति की सत्ता मानते हैं। उपरोक्त दोषों के कारण यह प्रक्रिया वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है। और जिस वैशेषिक प्रक्रिया का रूप लेखक ने इसे देना चाहा है उसके भी यह विरुद्ध है।

सृष्टि-रचना प्रकार सं० ६।

जनक और वसिष्ठ का संवाद।

महाभारत शान्ति प० अ० ३०८।

मूर्ति से रहित शुम्भु भगवान् ने मूर्तिधारी स्वयम्भू को उत्पन्न किया। हिरण्यगर्भ, बुद्धि, महान् और विरञ्चि इसी के नाम हैं। इसने अनेक रूप संसार को पैदा किया इसलिये इस का विश्वरूप भी नाम है। इस ने दो प्रकार के अहङ्कार को उत्पन्न किया। उनमें से एक का नाम विद्यासर्ग और दूसरे का नाम अविद्यासर्ग है। वह प्रजापति अपने आप को (अव्यक्त) निराकार रूप से, अहङ्कार से युक्त, व्यक्त (साकार) रूप में परिणत करता है, इसी का नाम विद्यासर्ग है। और महत् से अहङ्कार को भी उत्पन्न करता है। इसी का नाम अविद्यासर्ग है। इस अहङ्कार से, वायु, अग्नि, जल, आकाश, पृथिवी; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध दशों इकट्ठे उत्पन्न हुए। इस के बाद दश इन्द्रियें और मन भी इकट्ठे ही उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह चौबीस तत्वों की उत्पत्ति कही है। पचीसवां तत्व अव्यक्त है। वह ज्ञान से व्यवहार करने वाला चेतन है।

विशेष वक्तव्य।

इस प्रक्रिया में विद्यासर्ग और अविद्यासर्ग दो प्रकार के अहङ्कार की उत्पत्ति ब्रह्मा ने की है। अविद्यासर्ग से तो आगे चलकर भूतों को उत्पन्न किया गया। पर विद्यासर्ग का कोई उपयोग इस प्रक्रिया में नहीं दिखलाया गया। विद्यासर्ग नाम से भी, और प्रजापति ने स्वयं अहङ्कार का रूप धारण किया है इसलिये भी यह परिणाम प्रतीत तो चेतन ही होता है। परन्तु यह चेतन क्या है और इस का क्या उपयोग है इस का स्पष्टीकरण नहीं किया गया। उपनिषदों स्मृतियों और दर्शनों में भी इस प्रकार के विद्यासर्ग अहङ्कार का कहीं उल्लेख नहीं है। इस के विषय में यह भी कहा गया है कि "प्रजापति अपने निराकार रूप से साकार" 'अहङ्कार से युक्त' रूप में परिणत (तबदील) हुआ। परन्तु आरम्भ में ही मूर्ति से रहित भगवान् ने इसे मूर्तिधारी पैदा किया है, फिर यह अव्यक्त कैसे रहा ?।

महा भूतों और शब्द आदि पांच तन्मात्राओं की अहङ्कार से यहां इकट्ठी ही उत्पत्ति कही है। परन्तु सृष्टि रचना के चौथे प्रकार में इनकी उत्पत्ति क्रम से कही गई है। उस प्रक्रिया का उपनिषदों, दर्शनों और स्मृतियों से समर्थन होता है, इसलिये उसे ही ठीक मानना उचित प्रतीत होता है।

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ७।

ऋषि याज्ञवल्क्य का जनक को उपदेश।

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३१५

आठ प्रकृतियें हैं, सोलह विकार हैं। यह सामान्यतया साङ्ख्य और योग का और विशेष रूप से साङ्ख्य का मत है। इन चौबीसों में से ७ व्यक्त और शेष अव्यक्त हैं। अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, पृथिवी, वायु, आकाश, ज्योति और जल ये आठ प्रकृतियें हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; वाणी, हाथ, पैर, अपान, जनन इन्द्रिय और मन ये सोलह विकार हैं। इससे आगे ९ सर्ग कहते हैं। अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति पहिला सर्ग। महान् से अहङ्कार की उत्पत्ति दूसरा सर्ग। अहङ्कार से मन की उत्पत्ति तीसरा सर्ग। मन से पांच महाभूतों की उत्पत्ति चौथा सर्ग। महाभूतों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की उत्पत्ति पांचवां सर्ग। श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा और नासिका की उत्पत्ति छठा सर्ग। इसे चिन्तात्मक सर्ग कहते हैं। इससे आगे श्रोत्र इन्द्रियों का समुदाय उत्पन्न होता है यह सातवां सर्ग है। इसे ऐन्द्रियक कहते हैं। ऊपर का स्रोत और टेढ़ा स्रोत उत्पन्न होते हैं यह आठवां सर्ग है इसे आर्जवक कहते हैं। टेढ़ा स्रोत और नीचे का स्रोत उत्पन्न होते हैं यह नवां सर्ग है इसे आर्जवक कहते हैं।

विशेष वक्तव्य ।

इस रचना प्रकार को "सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ४" के ढङ्ग से लिखा गया है। परन्तु उसके साथ भी यह मिलता नहीं। उस प्रकार में पांच भूतों की उत्पत्ति अहङ्कार से मानी है और यहां मन से। शब्द आदि तन्मात्राओं की उत्पत्ति चौथे प्रकार में भूतों से पहिले मानी गई है और यहां भूतों के बाद में। इन्द्रियों की उत्पत्ति वहां अहङ्कार से कही गई है और यहां भूतों से। चौथा प्रकार ऋषि कपिल और मनु के रचना-क्रम से मिलता है, उपनिषदों से भी उस की सङ्गति ठीक बैठती है। इस लिये उस प्रकार को ही युक्त और इसे अयुक्त समझना चाहिये।

इस प्रक्रिया में श्रोत्र आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति दो बार कही है। सम्भवतः दूसरी बार इन्द्रियों के गोलकों की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया हो। परन्तु इन्द्रियों के गोलक तो शरीर के ही भाग हैं। अतः शरीर की रचना के वर्णन में उनकी रचना का वर्णन आना चाहिये था यहां नहीं।

इस रचना प्रकार में आर्जवक नाम से कहे गये, ऊपर का नीचे का और टेढ़ा स्रोत क्या चीज़ें हैं यह समझ में नहीं आता इस स्रोत का अर्थ आकाश भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति पहिले कही जा चुकी है। और यदि यह स्रोत, शून्य (खाली स्थान) का नाम है, तो उसकी उत्पत्ति कहना असङ्गत है, क्योंकि वह नित्य है।

इस सृष्टि क्रम को लेखक ने श्रुति के अनुकूल कहा है, इसकी प्रतिपादक श्रुति कौन है इसका कोई पता नहीं। कपिल और मनु को तो ऐसी श्रुति कोई मिली नहीं, अन्यथा वे भी इसी रीति से रचना-क्रम का व्याख्यान करते।

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ८।

आसुरि मुनि को ऋषि कपिल का उपदेश।

महाभारत शान्तिपर्व अ० ३२७।

उत्तम रज, सत्व, प्रधान, तत्व, अजर, अक्षर इत्यादि अव्यक्त के नाम हैं। अव्यक्त से पहिला तत्व व्यक्त उत्पन्न हुआ। पुरुष, महत्, बुद्धि, स्मृति, धृति, मेधा, व्यवसाय, समाधि, प्राप्ति आदि इस व्यक्त के नाम हैं। इस व्यक्त से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, वह व्यक्ततर (अधिक व्यक्त) है। विरञ्चि, अभिमान, अविवेक, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मद, दर्प और ममता ये सब इस व्यक्ततर 'अहंकार' के नाम हैं। अहङ्कार से, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध वाले पांच महाभूतों को उत्पन्न किया गया। इसके साथ ही, श्रोत्र, नासिका, चक्षु, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञान इन्द्रियें, और वाणी, हाथ, पैर, अपान और जनन इन्द्रिय ये पांच कर्म इन्द्रियें उत्पन्न हुईं।

विशेष वक्तव्य ।

यह सृष्टि रचना का प्रकार भी औरों की अपेक्षा विलक्षण ही है। यहां प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है। परन्तु उसी अव्यक्त शब्द से चेतना शक्ति को भी ग्रहण किया गया है। इस मूल तत्व से उत्पन्न हुए महत् और उससे उत्पन्न हुए अहङ्कार को भी यहां, जड़ चेतन का मिला हुआ परिणाम ही माना है और इसी लिये इन दोनों तत्वों को दो दो प्रकार के नाम दिये गये हैं। दूसरे परिणाम का नाम पुरुष भी है और महत् भी। तीसरे परिणाम को, विरञ्चि (ब्रह्मा) भी कहा है और अहङ्कार भी। विरञ्चि शब्द का ब्रह्मा अर्थ हमने अपनी तरफ़ से नहीं किया। यह मत इस प्रक्रिया के लेखक का ही है। इस अपने कथन के प्रमाण में हम इसी अध्याय का तेरहवां श्लोक उद्धृत करते हैं।

अहंकर्तेत्यहंकर्ता ससृजे विश्व मीश्वरः ।
तृतीयमेनम्पुरुष-मभिमान गुणंविदुः ॥

म० भा० शा० प० अ० ३२७ श्लो० १३

भाव—मैं करता हूँ मैं करता हूँ इस अहङ्कार की भावना से ईश्वर ने संसार को उत्पन्न किया। यह अभिमान गुण वाला तीसरा पुरुष है।

यह श्लोक यहां अहङ्कार की रचना के प्रसङ्ग में दिया गया है। अहङ्कार प्रकृति से तीसरा है इसी लिये इस पुरुष को भी तीसरा कहा गया है। इस पुरुष का यहां सृष्टि की

रचना करने वाला कहा गया है, इसलिये इस तीसरे पुरुष विरञ्चि शब्द का अर्थ ब्रह्मा ही होना चाहिये। अहङ्कार में इस जड़चेतन के मेल को देखकर, दूसरे परिणाम महत् के लिये प्रयुक्त हुआ पुरुष शब्द भी किसी चेतन का ही कहने वाला मानना पड़ेगा। यह दूसरा पुरुष है कौन इसका कुछ पता नहीं, क्योंकि इससे इस प्रक्रिया में कोई काम नहीं लिया गया। परिणामों के इस स्वरूप को देखकर आरम्भ के अव्यक्त शब्द के अर्थ भी जड़ और चेतन दोनों ही समझने पड़ेंगे।

इस प्रकार अहङ्कार तक चेतन जड़ को मिला कर ही सृष्टि रचना की गई है। परन्तु आगे चल कर भूतों और इन्द्रियों की रचना में चेतन को छोड़ दिया गया है। जब कि पहिले सब परिणाम जड़ चेतन मिश्रित तत्व के हैं तो आगे भी ऐसी ही प्रक्रिया चलनी चाहिये थी।

सृष्टि रचना के चौथे प्रकार में तन्मात्राओं के क्रम से भूतों की उत्पत्ति कही गई है। और यहां शब्द आदि गुणों के सहित आकाश आदि भूतों को इकट्ठे ही उत्पन्न किया गया है। वहां आकाश से वायु वायु से अग्नि इस क्रम से भूतों की उत्पत्ति कही गई है, और यहां सब भूतों की उत्पत्ति इकट्ठी ही मानी गई है। यह सारी ही प्रक्रिया चौथी प्रक्रिया के विरुद्ध है, और चौथी प्रक्रिया श्रुति-स्मृति के अनुकूल है, इस लिये उसे ही यथार्थ मानना उचित प्रतीत होता है।

सृष्टि-रचना प्रकार संख्या ६।

विष्णु का नारद को उपदेश।

महाभारत शान्ति पर्व अ० ३४७।

हे नारद! यह जगत् को धारण करने वाली पृथिवी जल में लीन हो जाती है। जल ज्योति में, ज्योति वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में, मन अव्यक्त में और अव्यक्त पुरुष में लीन हो जाता है। उस सनातन पुरुष से परे कोई नहीं और न उसके बिना कोई नित्य है। वह ही वासुदेव है सनातन है।

पृथिवी, जल, वायु, ज्योति और आकाश ये सब मिलकर ही शरीर बनता है। उस शरीर में प्रविष्ट होकर उसका सञ्चालन करने वाला जीव है। उसी का नाम शेष और उसी का नाम सङ्कर्षण है। वह अपने कर्मानुसार ही सनत्कुमार बना। जिस मन में सब भूतों का लय होता है उसी का नाम प्रद्युम्न है। उससे जिस कार्य कारण सङ्घात की उत्पत्ति हुई उसका नाम अनिरुद्ध है। जीव ही वासुदेव, क्षेत्रज्ञ और सङ्कर्षण है। सङ्कर्षण से प्रद्युम्न नामक मन और उससे अनिरुद्ध नामक अहङ्कार उत्पन्न होता है। उसीका नाम ईश्वर है। नारद! यह सब स्थावर जङ्गम जगत् मुझ से ही उत्पन्न होता है। यह न समझना कि मैं रूपवान् हूँ। मैं एक क्षण में ही तेरी आंखों से ओझल हो सकता हूं। जो भक्त, योग

युक्त होते हैं वे मेरे अन्दर ही प्रवेश करते हैं। इन तत्वों में पचीसवां पुरुष मैं ही हूँ।

विशेष वक्तव्य।

सृष्टि रचना के इस प्रकार की समता कई अंशों में "सृष्टि रचना प्रकार सं० ३" से है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं में जीव को सङ्कर्षण या वासुदेव, प्रकृति के पहिले परिणाम 'महत्' को प्रद्युम्न, और प्रकृति के दूसरे परिणाम 'अहङ्कार' को अनिरुद्ध कहा है।

इस प्रक्रिया में जीव को ही सङ्कर्षण, वासुदेव और क्षेत्रज्ञ कहा है। और तीसरे परिणाम अहंकार को अनिरुद्ध तथा ईश्वर कहा है। ये विचार वैदिक, स्मार्त और दार्शनिक किसी भी सृष्टि प्रक्रिया के अनुकूल नहीं हैं। गम्भीर दृष्टि से देखें तो यह बात समझ में आ जाती है कि इन दोनों ही प्रक्रियाओं में, योगिराज कृष्ण के ऐतिहासिक रूप को उड़ाकर उसे केवल कल्पना की चीज़ सिद्ध करने का यत्न किया गया है। जीव का ही नाम वासुदेव तथा संकर्षण रख देने से वसुदेव के पुत्र वासुदेव की सत्ता में सन्देह पड़ जाना सम्भव ही है और फिर विशेषता यह कि उनकी सन्तान प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को महत् तत्व और अहंकार तत्व के पर्याय बतला कर इस कल्पना को और भी सम्भव बना दिया है। इस संवाद को बनाया भी गया है विष्णु और नारद के नाम से। जिससे कि सीधी भगवान्

की वाणी होने के कारण कोई इस पर अश्रद्धा भी न कर सके।

सम्भवतः इस प्रक्षेप के काल में कृष्ण भगवान् को अवतार मानने वाले और इसके विरोधी दोनों ही पक्ष होंगे। और विरोधी पक्ष वालों ने कृष्ण भगवान् की सत्ता को सर्वथा ही मिटा देने के लिये यह प्रक्षेप महाभारत में किया होगा।

ऐसे प्रक्षिप्त भाग ही, महाभारत के ऐतिहासिक पुरुषों के विषय में, ऐतिहासिक लोगों की दृष्टि को बदल देते हैं और ऐसे प्रमाणों के आधार पर ही सम्भवतः उन्हें महाभारत को काल्पनिक कहने का अवसर मिलता है।

महाभारत के ऊपर के प्रकरणों को पाठकों ने ध्यान से पढ़ा होगा। इनमें से प्रत्येक के विषय में हम अपने विचार विशेष वक्तव्य में प्रकट कर आये हैं। अब इन सब के ही सम्बन्ध में सामान्य विचार किया जावेगा।

सृष्टि रचना के नौ प्रकार शान्ति पर्व में नौ विभिन्न स्थानों में आये हैं। ये सारे ही प्रसङ्ग व्यास जी के अपने नहीं हैं। इस निर्णय के लिये पाठक नीचे लिखे हेतु पढ़ें।

१—यदि ये सब प्रकरण व्यास जी के अपने होते तो इनमें परस्पर विरोध न होता।

२—व्यास जी जैसे वेदों के अनन्य भक्त सुयोग्य सम्पादक अपने ग्रन्थ में पूर्व पर विरुद्ध और श्रुति-स्मृति विरुद्ध मतों को स्थान नहीं दे सकते थे।

३—सृष्टि रचना के एक ही विषय को नौ बार नौ स्थानों में प्रकट करने की आवश्यकता न थी।

'यह कहा जा सकता है कि ये सब विभिन्न ऋषियों के मत दिखलाए गए होंगे। परन्तु इस विचार को भी नीचे लिखी युक्तियें अयुक्त सिद्ध कर देती हैं।'

१—यदि एक ही विषय में नौ मत व्यास जी को दिखाने अभीष्ट होते तो इन सब को एक ही स्थान पर दिखला कर अन्त में वे अपना निश्चित मत लिखते।

२—इनमें से तीन प्रसङ्गों का वर्णन करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और व्यास हैं। वर्तमान महाभारत के अनुसार, ब्रह्मा सृष्टि की रचना करने वाले हैं। विष्णु स्वयं हैं ही ईश्वर और व्यास जी विष्णु के ही अवतार हैं। इस लिये इन तीनों के मतों में तो विरोध होना ही नहीं चाहिये। परन्तु इनके मतों में भी विरोध मिलता है।

३—इन नौ मतों में से एक मत, राम, परशुराम, नारद, व्यास, असित और वाल्मीकि इन ऋषियों का परस्पर संवाद है। इनमें से, राम, परशुराम, वाल्मीकि और व्यास समान कालीन नहीं हैं, इसलिये यह प्रसङ्ग स्पष्ट ही कल्पित प्रतीत होता है। और यदि यह कल्पना की जावे कि राम· आदि कोई व्यास के समय के ऋषि ही होंगे। तो इस संवाद में व्यास जी की प्रधानता होने से यह मत व्यास जी के "व्यास शुक संवाद" के अनुकूल ही होना चाहिये था, परन्तु है विरुद्ध।

अब पाठक समझ गये होंगे कि इनमें से आठ मत न व्यास जी के हैं, और न अन्य ऋषियों के, किन्तु कल्पित और प्रक्षिप्त हैं। अब यह देखना है कि इन में से मूल महा भारत का कौन सा मत है। जिसे कि व्यास जी का अपना मत कहा जा सके। हमारा निश्चय है कि इनमें से व्यास जी का अपना मत "व्यास शुक संवाद" सृष्टि का चौथा प्रकार है। इसी का श्रुति-स्मृति और दर्शन अनुमोदन करते हैं। शेष प्रसङ्ग प्रक्षिप्त हैं। इस निर्णय पर पहुँचने के लिये पाठक सृष्टिक्रम के प्रतिपादक ऋग्वेद के तीन मन्त्रों की व्याख्या आगे पढ़ें।

ओं ऋतञ्चसत्यञ्चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥ समुद्रा दर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्यामिषतो वशी ॥२॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्व मकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्ष मथोस्वः ।

ऋ० १०।१९०।१।२।३।

भावार्थ—(अभीद्धात्तपसः) ज्ञान के भण्डार भगवान् के, समुन्नत तप (ईक्षण द्वारा प्रकृति में उत्पन्न किये क्षोभ) से (ऋतञ्च सत्यञ्च अजायत) ज्ञान और सत्य की उत्पत्ति हुई।

यहां सत्य शब्द से सत्त्वगुण प्रधान प्रकृति का पहिला परिणाम महत् तत्व लिया गया है। अन्तः करण में सत्वगुण के प्रधान होने पर ही सत्य का आभास होता है इसलिये

इसे सत्य कहा है। सत्यज्ञान की उत्पत्ति भी तप से ही होती है इसलिये यहां यह आलङ्कारिक वर्णन है। अर्थात् जिस प्रकार तप से सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार भगवान् के द्वारा प्रकृति में क्षोभ या ताप उत्पन्न होने पर सत्य की या महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। (ततो रात्र्य-जायत) उस के बाद रात्रि उत्पन्न हुई। यहां भी यह सृष्टि रचना का आलङ्कारिक वर्णन ही है। जिस प्रकार सत्वगुण प्रधान दिन के बाद, तमोगुण प्रधान रात्रि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सत्वगुण प्रधान महत् तत्व के बाद तमोगुण प्रधान अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार रात्रि निद्रा और आलस्य के देने वाली है, इसी प्रकार अहंकार भी प्रमाद और आलस्य का देने वाला है। रात्रि को भी कुछ देने वाली होने से रात्रि कहा जाता है, और अहंकार को भी यहां आलस्य तथा प्रमाद का देने वाला होने से रात्रि कह दिया गया है। लोक व्यवहार में भी गुणों के आधार पर यह समता देख ने में आती है। मनुष्य में सत्वगुण के प्रधान होने पर उसे महत्व या बड़प्पन मिलता है। परन्तु उस महत्व के मिलने के बाद ही उस के अन्दर तमोगुण प्रधान अभिमान उत्पन्न हो जाता है। अहङ्कार को यदि भगवान् यहां रात्रि न कहते तो इस अलङ्कार की दृष्टि से प्राप्त होने वाले ऊपर लिखे उपदेश हमें नहीं मिल सकते थे। (ततः समुद्रो अर्णवः) इस के बाद समुद्र अर्णव बन गया। समुद्र नाम वेद की परिभाषा में आकाश का भी है

और जल के भण्डार का भी। "जल के भण्डार" अर्थ को प्रकट करने वाला यहां दूसरा शब्द अर्णव है, इसलिये पहिले समुद्र शब्द का अर्थ आकाश तत्व ही करना पड़ेगा। इसलिये इस वाक्य का यह अर्थ हो गया। "इस के बाद आकाश तत्व जल का भण्डार बन गया।"

यहां अहङ्कार की उत्पत्ति के बाद आकाश की और आकाश की उत्पत्ति के बाद जल की उत्पत्ति तो स्पष्ट है। परन्तु अहङ्कार को आकाश तक और आकाश को जल की अवस्था तक पहुँचने के लिये किन किन सूक्ष्म अवस्थाओं को पार करना पड़ा इस का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया।

वेद हैं भी सूत्ररूप। उन में यदि प्रत्येक ज्ञान को पूरे विस्तार से व्याख्यान किया जाता, तो वेद इतने बड़े पुस्तक बन जाते कि मनुष्य कई जन्मों में भी उसका पारायण न कर सकता। भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि इसी लिये दी है कि वह उस के द्वारा ज्ञान के अंकुरों का ग्रहण कर, उस का विस्तार करता हुआ, शाखा प्रशाखाओं को बढ़ाकर उसे फल फूल देने वाला वृक्ष बना सके।

बीच की इन दोनों अवस्थाओं का व्याख्यान ऋषियों ने किया है। अहङ्कार को आकाश की अवस्था तक पहुँचने के लिये, महर्षि कपिल ने और भगवान् मनु ने बीच में शब्दतन्मात्रा (आकाश की सूक्ष्म अवस्था) की आवश्यकता बतलाई है। और आकाश को जल की अवस्था तक पहुँचने के लिये, महर्षि तित्तिरि ने तैत्तिरीय उपनिषद् में और

प्रशस्तदेव आचार्य ने वैशेषिक दर्शन के भाष्य में बीच में वायु और अग्नि की आवश्यकता बतलाई है। और महर्षि कपिल तथा मनु, वायु और अग्नि से भी प्रथम, उन दोनों के सूक्ष्मरूप स्पर्शतन्मात्रा और रूप तन्मात्रा की आवश्यकता बतलाते हैं। और महर्षि वेदव्यास ने पूर्व लिखे गये "सृष्टि-रचना के प्रकार संख्या ४" में इन महर्षियों के प्रकाशित किये हुए, सृष्टि रचना के इन सब ही अङ्गों का सुन्दर संग्रह किया है। (समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उस जल के रूप में परिणत (तबदील) हुए, आकाश से, सब लोकों को अपने अन्दर बसाने वाली, अथवा पूरे वर्ष में रहनेवाली कोई वस्तु उत्पन्न हुई।

जल के अन्दर यह क्या चीज़ उत्पन्न हुई इसे "शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ ब्राह्मण ६ कण्डिका १" में एक साल तक जल में रहने वाला एक बड़ा भारी प्रकाशमय अण्डा कहा है। मनु भगवान् ने भी प्रथम अध्याय के नवें श्लोक में—इसका यह ही आकार और यह ही नाम कहा है।

हम पहिले लिख आये हैं कि इस अण्डे का नाम अधि-संवत्सर इस लिये है कि इस में लोक-लोकान्तर बसे हुए हैं, और इस लिये भी कि यह एक साल पानी के अन्दर ही रह कर बढ़ता और पकता रहा है।

हमारे ये दोनों ही अर्थ व्याकरण की दृष्टि से तो ठीक हैं ही अब हम इन्हें युक्ति और प्रमाणों से भी उपपन्न कर देना उचित समझते हैं। ऋग्वेद के इन मन्त्रों में आगे चल

कर पृथिवी सूर्य आदि लोकों की उत्पत्ति कही है। वे लोक लोकान्तर किस चीज़ में से उत्पन्न हुए यह जानने के लिये शतपथ ब्राह्मण को पढ़िये।

"तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत"। शतपथ का० ११ अ० ६ क० १।

भावार्थ—यह प्रकाशमय अण्डा एक साल तक जल के अन्दर तैरता रहा। इस प्रकार यहाँ जल से इस अण्डे की उत्पत्ति बतला कर आगे चलकर इसी अण्डे को तोड़ कर इस से पृथिवी आदि लोकों की उत्पत्ति कही है।

इन मन्त्रों में भी आगे लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति कही है, और संवत्सर के अन्दर रहने वाली कोई चीज़ भी कही है, इस लिये इस अधिसंवत्सर को लोकों की उत्पत्ति का बीज वह शतपथ वाला अण्डा ही कहना पड़ेगा। हमारे इसी विचार को मनु के प्रथम अध्याय का नवां श्लोक भी पुष्ट कर रहा है।

जल की उत्पत्ति हो चुकी। उसके अन्दर अधिसंवत्सर नामक महान् अण्डा भी उत्पन्न हो गया। इसके आगे चल कर इस अण्डे से स्थूल पृथिवी लोक की उत्पत्ति होनेवाली है। जिस प्रकार आकाश, अग्नि, वायु और जल के सूक्ष्म रूप उनकी तन्मात्राएँ हैं, और उनकी उत्पत्ति से पहिले ऋषियों ने उनके सूक्ष्म रूपों की उत्पत्ति का व्याख्यान किया है। उसी प्रकार पृथिवी की उत्पत्ति से पहिले, जल से,

इस अण्डे में पृथिवी का सूक्ष्म रूप गन्धतन्मात्रा भी उत्पन्न होनी चाहिये। इसका भी स्पष्टीकरण यहाँ इन मन्त्रों में नहीं किया गया है। परन्तु ऋषि कपिल और मनु ने इस अंश का व्याख्यान किया है, और पृथिवी से पहिले उन्होंने गन्ध-तन्मात्रा की उत्पत्ति मानी है। इस लिये जल के भण्डार में से इस अण्ड में गन्धतन्मात्रा की भी उत्पत्ति होगई। इस प्रकार इस अण्डे में, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पाँचों तत्वों का मेल था। और इन पाँचों तत्वों के मेल से ही आगे चलकर लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति हुई।

ग्यारहों इन्द्रियें भी शब्दतन्मात्रा की तरह सूक्ष्म हैं। उनकी उत्पत्ति का भी यहाँ वर्णन नहीं है। ऋषि कपिल और मनु ने सृष्टि रचना के इस अङ्ग का भी व्याख्यान किया है। इनकी उत्पत्ति भी उन्होंने शब्दतन्मात्रा की तरह अहंकार से मानी है। महर्षि वेदव्यास ने भी अपने सृष्टि-रचनाक्रम में जो "सृष्टि-रचना प्रकार सं० ४" में है सृष्टि-रचना के इन सब अङ्गों का संग्रह किया है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये ग्यारहों इन्द्रियें भी आकाश आदि तत्वों के साथ उस महान् अण्डे में विद्यमान थे।

तन्मात्राओं की उत्पत्ति में कुछ मत भेद है। किसी महर्षि ने इनकी उत्पत्ति सीधी अहङ्कार से मानी है। और किसी ने अहङ्कार से शब्द तन्मात्रा की, उससे आकाश की, आकाश से स्पर्श तन्मात्रा की और उससे वायु की इस क्रम

से उत्पत्ति मानी है। परन्तु यह कोई मौलिक मत भेद नहीं। सृष्टि क्रम के मुख्य नियम (सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाने) का ध्यान दोनों मतों में रक्खा गया है। और अवस्थाएँ भी सभी दोनों मतों में मानी गई हैं।

सृष्टि रचना के दो भाग हैं, भूत सृष्टि और लोक सृष्टि। पांच भूतों और इन्द्रियों की उत्पत्ति भूत सृष्टि के अन्दर आ जाती है। और पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, अन्तरिक्ष आदि लोकों की सृष्टि लोक सृष्टि है।

सृष्टि रचना का कहीं कहीं आंशिक (एक भाग का) और कहीं कहीं पूरा वर्णन मिलता है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने शतपथ में जल से सृष्टि-रचना का आरम्भ किया है। उन्होंने प्रकृति, महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं के क्रम से भूतों की रचना का व्याख्यान न करते हुए, लोक सृष्टि का व्याख्यान किया है। और इसी लिये जल से आरम्भ कर अण्ड के क्रम से लोकों की रचना कही है। तैत्तिरीय उपनिषद् और वैशेषिक दर्शन में आकाश से लेकर भूत सृष्टि का व्याख्यान किया है।

प्रकृति से लेकर तन्मात्राओं तक के क्रम को उन्होंने छोड़ दिया है। महर्षि कपिल, और वेदव्यास ने प्रकृति से लेकर अन्त तक भूत सृष्टि का वर्णन किया है, लोक सृष्टि को छोड़ दिया है। महर्षि मनु ने लोक सृष्टि और भूत सृष्टि दोनों का वर्णन किया है। इस प्रकार सृष्टि रचना के विषय में किसी ऋषि का पूरा और किसी का एक भाग का

व्याख्यान मिलता है। परन्तु क्रम सब का एक ही है विरोध किसी में नहीं है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न अंशों का व्याख्यान किया।

यहां इस मन्त्र में अब तक भूत सृष्टि का व्याख्यान किया गया है। अब लोक सृष्टि का व्याख्यान करते हैं।

(*अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्र मसौधाता यथा पूर्व मकल्पयत्, दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्ष मथो स्वः*)।

भावार्थ—सब को वश में करने वाले और धारण करने वाले भगवान् ने, जगत् के लिये दिन और रात्रि का निर्माण करते हुए, पहिली सृष्टि की तरह, सूर्य, चन्द्रमा, दिव्, पृथिवी और स्वर् लोकों को बनाया।

तात्पर्य यह है कि उस अधिसंवत्सर नामक अण्डे को अपनी इच्छा शक्ति से तोड़ कर भगवान् ने उसमें से इन सब लोकों को अलग अलग कर दिया। इन लोकों में अन्त-रिक्ष का भी नाम आया है। अन्तरिक्ष नाम आकाश का है और आकाश की उत्पत्ति पहिले भी बतला चुके हैं। और अब भी कह रहे हैं यह पुनरुक्ति प्रतीत होती है। परन्तु यथार्थ में पुनरुक्ति नहीं है। आकाश दो हैं एक भूत आकाश और एक लोक आकाश। भूत आकाश शब्द का आधार पृथिवी और जल की तरह का, एक तत्व है। और लोक आकाश खाली जगह का नाम है। पहिले कहे गये महान्

अण्डे के अन्दर, लोक लोकान्तर और खाली स्थान भी विद्यमान थे। जब इन लोकों का विभाग किया, तो उनके बीच जो खाली स्थान रहा, उसी का नाम अन्तरिक्ष लोक पड़ा। यद्यपि यह स्थान पैदा होने वाली चीज़ नहीं, पहिले भी विद्यमान् था। परन्तु यह व्यवहार में लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति के बाद ही आया है, इसलिये लोक लोकान्तरों की उत्पत्ति के साथ ही इसका निर्देश किया गया। भगवान् ने इसीलिये यहां शब्द भी 'अकल्पयत्' दिया है। यह शब्द उत्पन्न होने वालों और बिना उत्पत्ति के ही व्यवहार में आने वालों, दोनों के साथ लग सकता है।

सृष्टि रचना के इस वैदिक प्रकार को पढ़कर, और इसके साथ ही अन्य ऋषियों के मतों को जानकर, मेरी तरह ही पाठक भी अवश्य इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि पहिले दिखाये गये सृष्टि-रचना के नौ प्रकारों में से "व्यास शुक-संवाद" नामक चौथा प्रकार ही व्यास जी का अपना और मूल भारत का है। शेष सब प्रकार श्रुति स्मृति विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं, पीछे के मिलाये हुए हैं।

जिस प्रक्षेप का हमने उल्लेख किया है वह महाभारत के अठारह पर्वों में से एक पर्व में और उसके भी एक प्रकरण में है। सारे महाभारत में कितनी मिलावट होगी, इस का अनुमान पाठक इसी से कर लें।

गीता भी इसी महाभारत का एक अङ्ग है। इसलिये

उसमें भी इसी प्रकार से प्रक्षेप अवश्य किया गया होगा, यह अनुमान अनायास ही किया जा सकता है। परन्तु इस अनुमान से यह निर्णय होना कठिन है कि वास्तव में गीता में प्रक्षेप है कितना। इस विषय का निर्णय करने के लिये हम पाठकों के सामने "गीता में प्रक्षेप" नामक दूसरा प्रकरण उपस्थित करते हैं।

❀ निष्काम-कर्म का उपदेश ❀

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ॥

यजुः, अ० ४०, मं० २ ॥

भाव—कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥

गीता, अ० २, श्लो० ४७ ॥

भाव—कर्म करने में ही तेरा अधिकार है—फल की आकांक्षा न कर।

❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप

द्वितीय अध्याय

गीता के दूसरे अध्याय का चौबीसवां श्लोक प्राक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त होने में कारण है पुनरुक्ति। इस श्लोक का आवश्यक सब विषय पिछले श्लोकों में आ चुका है। श्लोक नीचे पढ़िये—

अच्छेद्योऽय मदाह्योऽयमविकार्योऽय मुच्यते।
नित्यः सर्व गतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

भावार्थ—यह आत्मा काटा और जलाया नहीं जा सकता। यह नित्य, सर्व व्यापक, स्थिर और अविकारी है ॥२४॥

आत्मा के काटने और जलाये न जा सकने का विधान तेईसवें श्लोक में आचुका है। इसे नित्य और अविकारी इक्कीसवें श्लोक में कहा गया है। नित्य और अविकारी कह देने पर स्थिर कहने की कोई आवश्यकता रह ही नहीं जाती। अतः स्पष्ट है कि आत्मा को सर्व व्यापक

कहने के लिये ही इस श्लोक की रचना की गई है। और यह भी गीताकार का सिद्धान्त नहीं। इससे प्रथम महाराज कह आये हैं "पुराने शरीर को छोड़ कर देहधारी अन्य नये शरीर में चला जाता है" (अ० २ श्लो० २२) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाना सर्व व्यापक का काम नहीं। वह तो पहिले से ही सर्वत्र विद्यमान् है। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

इस अध्याय में अड़तालीसवें श्लोक तक सांख्यका निरूपण कर उनतालीसवें श्लोक से गीताकार ने योग के वर्णन का उपक्रम किया है। गीता में योग नाम निष्काम कर्म का है। फल की कामना न करते हुए कर्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है उसे निष्काम कर्म कहते हैं। इस ध्येय को ध्यान में रख कर इस अध्याय के इकतालीसवें श्लोक से लेकर चवालीसवें श्लोक तक फल की कामना से किये हुए कर्म को बुद्धि में विक्षेप पैदा करने वाला कह कर निन्दित कहा है। और "फल की कामना से ही कर्म करना चाहिये, इस के बिना कुछ किया ही नहीं जा सकता" ऐसा कहने वाले लोगों को वेद के ज्ञानी न कह कर, 'वेदवादरत' (वेद के नाम से शोर मचाने वाले) कहा है।

इस अध्याय में पैंतालीसवां और छियालीसवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। श्लोक ये हैं—

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो निर्योग क्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

भाव—हे अर्जुन! वेदों में तीन गुणों का ही प्रतिपादन है। तू इन तीनों गुणों से बाहर निकल, सत्व में स्थित हो, द्वन्द्व को छोड़ दे, सांसारिक व्यवहार से ऊँचा उठ और आत्मिक बल को धारण कर ॥४५॥

जब कि सब जगह पानी भरा हुआ हो उस समय जितना प्रयोजन छबील का हो सकता है, वैसा ही विज्ञानी का सब वेदों से प्रयोजन है ॥४६॥

इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दो कारण हैं। एक यह कि इनका इस प्रकरण के साथ सम्बन्ध नहीं है। और दूसरे ये गीताकार के मत के अनुकूल नहीं हैं।

यह प्रकरण निष्काम कर्म का है। ऊपर के श्लोकों में फल की आकांक्षा से कर्म करने वाले लोगों की निन्दा की गई है, और ४७ वें श्लोक में निष्काम कर्म का विधान किया गया है। ऐसी अवस्था में इन बीच के दो श्लोकों में भी निष्काम कर्म के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहिये था। परन्तु इनमें स्पष्ट ही वेदों की निन्दा की गई है और उनके विषय में उपेक्षा का भाव प्रकट किया गया है। इस लिये प्रकरण के साथ सम्बन्ध न होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ये श्लोक गीताकार के मत के अनुकूल भी नहीं हैं। त्रैगुण्य से ऊँचा उठे हुए अधिकारी के लिये भी कृष्ण भगवान्

ने वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक बतलाया है। अपने ही विषय में उन्होंने कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्तएव च कर्मणि ॥ अ० ३ श्लो० २२॥

हे अर्जुन ! तीनों लोकों में मेरे लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह गया। और न कोई वस्तु ही ऐसी है जिसकी प्राप्ति की मुझे इच्छा हो। परन्तु फिर भी कर्म करता हूँ।

इसी प्रकार तीसरे और अठारहवें अध्याय में भी यज्ञ आदि सब कर्मों का विधान किया है। परन्तु यहां कर्मों का विधान करने वाले वेद को ही छोड़ देने की अनुमति दी गई है।

इन श्लोकों में यह भी कहा गया है कि वेदों में तीन गुणों का ही विधान है। और विज्ञानी को वेदों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु ये विचार भी गीताकार के मत के विरुद्ध हैं।

गीताकार ने वेदों में तीन गुणों का ही नहीं परमेश्वर का भी वर्णन माना है। यह जानने के लिये गीता के आठवें अध्याय का ग्यारहवां श्लोक पढ़िये—

यदक्षरं वेद विदो वदन्ति,

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ अ० ८ श्लो० ११॥

वेद के ज्ञाता लोग जिस अविनाशी ब्रह्म का व्याख्यान करते हैं। वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं। जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। वह पद तुझे संक्षेप से कहता हूँ।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि वेद के जानने वाले ही ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं इसलिये गीताकार वेद में ब्रह्म का पूर्ण वर्णन मानते हैं। गीताकार यह भी नहीं मानते कि विज्ञानी के लिये वेदों की आवश्यकता नहीं है। चौदहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक गीता में विज्ञान का वर्णन किया गया है। और वह विज्ञान है, सत्व आदि गुणों और आत्मा का विवेक। परन्तु इस विज्ञान के बाद भी इस वर्णन के अन्त में उन्होंने ईश्वर की शरण में जाने की आवश्यकता बतलाई है। और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है वेदों से, इसलिए विज्ञानी के लिये भी गीता के मत में वेदों की आवश्यकता है। इसलिये गीता के मत से विरुद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

द्वितीय अध्याय में साठवां और इकसठवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। श्लोक ये हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

भावार्थ—हे अर्जुन ! बड़ा प्रयत्न करने वाले विद्वान् पुरुष के मन को भी प्रबल इन्द्रियां बल से खींच ले जाती हैं। इन सब को रोक कर योगी पुरुष मुझे इष्ट मान लें। इन्द्रियें जिसके वश में हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥६०-६१॥

इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दो कारण हैं। एक यह कि यहां इन श्लोकों का प्रसङ्ग नहीं था। इनसे पहिले श्लोक में कहा गया है कि "भोजन छोड़ देने पर पुरुष का विषयों से तो सम्बन्ध टूट जाता है, परन्तु उनकी चाह नहीं छूटती। और भगवान् के दर्शन होने पर वह चाह भी निवृत्त हो जाती है (गी० २. ५९)"।

आगे चलकर बासठवें श्लोक से लेकर पैंसठवें श्लोक तक "यह विषयों की चाह कैसे उत्पन्न होती है, बुद्धि का यह किस प्रकार नाश कर देती है, भगवान् की प्राप्ति से पहिले इसकी निवृत्ति का क्या उपाय है, और इसके निवृत्त होने पर बुद्धि किस प्रकार स्थिर हो जाती है", इन प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार ५९, ६२, ६३, ६४, ६५ श्लोकों में विषयों की चाह से बुद्धि की चञ्चलता और उस चाह की निवृत्ति से बुद्धि की स्थिति का वर्णन है। फिर इस प्रसङ्ग के बीच में ही साठवें और इकसठवें श्लोक में बुद्धि की स्थिति के दूसरे उपाय "इन्द्रियों के निरोध" का

वर्णन कैसे सङ्गत माना जा सकता है, जब कि उस चाह के स्वरूप और उसी चाह की उत्पत्ति का वर्णन बासठवें श्लोक से आरम्भ होता है, और उसे बुद्धि के नाश का कारण बतलाते हुए, चौसठवें श्लोक से बुद्धि की स्थिति का उपाय बतलाना आरम्भ किया गया है। एक प्रसङ्ग के बीच में दूसरा प्रसङ्ग प्रक्षिप्त ही कहा जा सकता है।

इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दूसरा कारण है पुनरुक्ति। "इन्द्रियों का निरोध बुद्धि की स्थिति में कारण है" यह प्रसङ्ग अठावनवें श्लोक में पहिले आ चुका है, श्लोक नीचे पढ़िये—

यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

भावार्थ—जिस प्रकार कछुवा अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है; उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है (गी० २. ५८.) यह प्रक्षेप "मत्परः" (कृष्ण भगवान् के आधीन हो) यह विचार प्रकट कर, योगिराज को ईश्वर बनाने के लिये किया गया होगा।

इसी अध्याय में निम्न लिखित ६७, ६८ और ६९ वाँ श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाव मिवाम्भसि ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

भावार्थ—इन्द्रियों के पीछे-पीछे बाहर जाने वाला मन, मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार विचलित कर देता है, जैसे पानी में वायु नाव को ॥६७॥ इस लिये हे अर्जुन ! जिसकी इन्द्रियें सब तरफ से विषयों से हटी हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥६८॥ जो सब प्राणियों की रात है, संयमी पुरुष उसमें जागता है। और जब सब प्राणी जागते हैं वह ज्ञानी मुनि की रात है ॥६९॥ पहिले दो श्लोकों में फिर इन्द्रियों के निरोध को बुद्धि के स्थिर करने में कारण बतलाया गया है। हम पहिले लिख आये हैं, कि यह विचार पहिले अठावनवें श्लोक में प्रकट किया जा चुका है। इस लिये इसका यहां फिर प्रकट करना पुनरुक्ति है । इस लिये ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

इन तीनों ही श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में एक यह कारण है कि इनका प्रसङ्ग के साथ सम्बन्ध नहीं है । इन श्लोकों से पहिले छियासठवें श्लोक में कहा गया है "जो कर्मयोगी नहीं है उसे सम बुद्धि और सम भावना प्राप्त नहीं हो सकती, और समभावना के बिना शान्ति नहीं मिल सकती और शान्ति के बिना सुख कहां से आया । इस प्रकार इस श्लोक में शान्ति के लाभ का साधन बतलाया गया है ।

आगे चलकर सत्तरवें श्लोक में कहा गया है "स्थिर और भरे हुए समुद्र में जिस प्रकार जल प्रविष्ट होते हैं, उसी प्रकार सब कामनाएँ जिसमें प्रविष्ट हो जाती हैं वह शान्ति को लाभ करता है कामनाओं की चाह वाला नहीं" (अ० २ श्लो० ७०) इस प्रकार इस श्लोक में शान्ति की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। छियासठवें श्लोक में शान्ति की अप्राप्ति के कारण का, और सत्तरवें श्लोक में शान्ति की प्राप्ति के कारण का वर्णन है इस लिये ये दोनों श्लोक एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इन दोनों के बीच में किसी अन्य प्रसङ्ग के उल्लेख को प्रक्षिप्त मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है। यह प्रसङ्ग यहां किसी ने क्यों डाल दिया यह समझ में नहीं आया।

❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप

तृतीय अध्याय
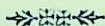
तीसरे अध्याय में ३० । ३१ । ३२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं । ये श्लोक २६ वें और ३३ वें श्लोक के आवश्यक सम्बन्ध को भङ्ग कर देते हैं, और इनका यहां कोई प्रसङ्ग भी नहीं है। २६ वां और ३३ वां श्लोक ध्यान से पढ़िये—

प्रकृतेर्गुण संमूढा सज्जन्ते गुण कर्मसु ।
तान कृत्स्न विदो मन्दान् कृत्स्न विन्न विचालयेत् ॥२९॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृते र्ज्ञानवान पि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

स्वभाव के गुणों से मोहित हुए हुए लोग तामस राजस आदि कर्मों में लगते हैं। ज्ञानी मनुष्य उन संसारी मनुष्यों को कर्म से विचलित न करे ॥२६॥ ज्ञानी मनुष्य भी तो अपने स्वभाव के अनुसार ही चेष्टा करता है। अपने स्वभाव के अनुसार ही प्राणी चलेंगे, दमन उनके स्वभाव को नहीं बदल सकता ॥३०॥

इन श्लोकों को पढ़कर पाठक समझ गये होंगे कि इन दोनों के विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके बीच में और किसी श्लोक के लिए स्थान नहीं है।

इस प्रसङ्ग में स्वभाव के अनुसार कर्म करने का विधान है। परन्तु बीच के श्लोकों में कहा गया है, "मेरे अर्पण करते हुए सब कर्म करो"। जो ऐसा करेगा वह श्रेष्ठ और जो ऐसा न करेगा वह निन्दित है। इन दो श्लोकों के बीच में यह प्रसङ्ग खटकता है, इसलिये ये तीनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। योगिराज कृष्ण को परमात्मा बनाने की भावना से प्रेरित होकर ये श्लोक लिखे गये हैं।
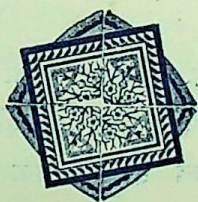
❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय के आरम्भ से लेकर १५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। दूसरे अध्याय के अड़तीसवें श्लोक से लेकर कर्मयोग का प्रकरण चला है। और यह छठे अध्याय के चौथे श्लोक तक चला गया है। चतुर्थ अध्याय का प्रथम श्लोक यह है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥अ० ४ श्लोक १॥

इस अविकारी योग को मैंने विवस्वान् को विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा था। आगे चलकर कहा है—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥३॥

भाव—वह ही यह पुराना योग मैंने तुझे आज कहा है। इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि कर्मयोग का प्रकरण समाप्त हो चुका, परन्तु कर्मयोग का प्रसङ्ग अभी समाप्त नहीं हुआ दूर तक चला गया है। बीच में अर्जुन ने प्रश्न कर दिया था कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों कर बैठता है। उसका उत्तर देकर चतुर्थ अध्याय के सोलहवें

श्लोक में उसी प्रकरण को फिर आरम्भ कर दिया गया है। लिखा है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

भाव—क्या कर्म है और क्या अकर्म है, इस विषय में विद्वान् लोगों को भी भ्रांति हो जाती है। मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा जिसे जानकर अमङ्गल से छूट जावेगा। इस प्रकार यह प्रकरण निरन्तर चल रहा है। इसके बीच में उसकी समाप्ति की सूचना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, यहां के नहीं हैं। यदि ग्रन्थकार के ये श्लोक होते तो वह इन्हें इस प्रकरण के अन्त में लिखता।

आगे चलकर चौथे श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि आपके और विवस्वान् के काल में तो बड़ा अन्तर है फिर आपने विवस्वान् को यह योग कैसे बतलाया ?

इस प्रश्न का उत्तर आठवें श्लोक की समाप्ति तक दिया गया है। आठवें श्लोक का उत्तरार्ध है—

धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

भाव—मैं धर्म की स्थापना के लिये युग युग में आता हूँ। पर यहां पर ही प्रक्षेपक महोदय ने बस नहीं कर दी। आगे चलकर आपने कृष्ण भगवान् की उपासना और उसके फल बतलाने आरम्भ कर दिये हैं। इससे भी आगे चलकर आपने गुणकर्मानुसार चारों वर्णों की सृष्टि कृष्ण भगवान्

से कराई है। इस प्रकार इस प्रकरण को अजायबघर बनाने के बाद आपने अगले प्रसङ्ग से मिलाने के लिये दो श्लोक रचे हैं। वे ये हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स लिप्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

भाव—मुझे कर्म फलों की अभिलाषा नहीं। मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस ढङ्ग से जो मुझे जानता है वह भी कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ १४ ॥ यह जानकर ही प्राचीन काल के मुमुक्षु लोग कर्म करते रहे हैं। तू भी कर्म कर; क्योंकि पूर्व पुरुषा करते रहे हैं ॥ १५ ॥ इस प्रकार इन श्लोकों द्वारा आपने अपनी कृति को प्रकरण से मिलाने का यत्न किया है। यों तो आपकी यह कृति भी दोष से बच न सकी। भला अर्जुन और अर्जुन के समकालीन ऋषि लोग तो यह जान भी सकते हैं कि कृष्ण को कर्मफलों की आकांक्षा नहीं, और वह कर्मों से लिप्त नहीं होते और यह जानकर वे कर्म करने के लिये अग्रसर भी हो सकते हैं। परन्तु कृष्ण भगवान् के जन्म से पूर्वकालीन मुमुक्षुओं को यह ज्ञान कैसे हुआ होगा। और उन्होंने यह जानकर कर्म कैसे किये होंगे? यह कहा जा सकता है कि उन्होंने योग दृष्टि से यह जान लिया होगा। परन्तु योग दृष्टि तो कर्म करने

के बाद मिलेगी। न कि कर्म के आरम्भ में। अस्तु, अब हम इस विषय की अधिक विवेचना नहीं करना चाहते, इतना ही लेख इन श्लोकों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसी अध्याय का चौबीसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। इस श्लोक से पहिले महाराज ने बतलाया है कि मनुष्य प्रथम तो निष्काम भावना से कर्म करे, और यदि ऐसा न भी हो सके तो, यज्ञ के लिए (लोक हित की भावना) से कर्म करे। ऐसा करने से उसके कर्म होते हुए भी नहीं के बराबर होते हैं, और उसे बन्धन में डालने का कारण नहीं बनते। और इस श्लोक से आगे चलकर विभिन्न यज्ञों का व्याख्यान करते हुए ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। इन दोनों प्रसङ्गों के बीच में यह बिना प्रसङ्ग के ही विचित्र ढङ्ग का श्लोक किसी अद्वैत वादी महानुभाव के द्वारा प्रक्षिप्त किया गया प्रतीत होता है। श्लोक पढ़िये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ॥२४॥

भावार्थ—ब्रह्मरूप कर्म समाधि (कर्मयोग) करने वाला, ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। उसकी हवि ब्रह्म के ही अर्पण है। ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म के ही द्वारा डाली गई है ॥२४॥ पहिले प्रसङ्ग के अनुसार यहां यह बतलाना चाहिये था कि कर्म अकर्म किस प्रकार हो जाता है। परन्तु इस श्लोक में किसी विशेष प्रकार का यज्ञ करने वाले कर्मठ के लिये ब्रह्म प्राप्ति रूप फल का विधान किया गया है।

आगे आने वाले प्रसङ्ग के साथ भी इस श्लोक का मेल प्रतीत नहीं होता। इस प्रसङ्ग में विभिन्न यज्ञों का वर्णन किया गया है, और यह श्लोक फल का प्रतिपादक होने से कर्म का विधान करने वाला माना नहीं जा सकता। यदि थोड़ी देर क लिये यह भी मान लिया जावे कि इसमें फल विधान गौण है, और कर्म का विधान मुख्य है, इसलिये यह वाक्य कर्म का ही विधान करने वाला है, सो भी ठीक नहीं। ऐसा मानने से पुनरुक्ति होती है। क्योंकि पचीसवें श्लोक ब्रह्मार्पण यज्ञ का विधान महाराज ने आगे चलकर किया है।

ब्रह्माग्ना व परे यज्ञं यज्ञेनैवोप जुह्वति ॥२५॥

भावार्थ—कोई महानुभाव ब्रह्मरूप अग्नि में अपने कर्मरूप यज्ञ का कर्म के द्वारा ही हवन करते हैं ॥२५॥ उपर्युक्त लेख से पाठक समझ गये होंगे कि इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है।

इसी अध्याय के ३४, ३५, ३६ और ३७ चार श्लोक और प्रक्षिप्त हैं। तेंतीसवें श्लोक में द्रव्य यज्ञ से ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ बतलाया गया है। और ज्ञान को ही सब कर्मों की सम्पूर्णता का साधन बतलाया गया है। इस प्रकरण का ज्ञान वेद का ज्ञान अथवा धर्म शास्त्रों का ज्ञान नहीं है। यहां निश्चय रूप बुद्धि का नाम ज्ञान है हमारे इस कथन में इसी अध्याय का इकतालीसवां श्लोक प्रमाण है। श्लोक नीचे पढ़िये—

योग संन्यस्त कर्माणं ज्ञान सञ्छिन्न संशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

भावार्थ—जिसने कर्मयोग की रीति से कर्म का त्याग किया, ज्ञान से संशय को दूर किया। ऐसे आत्मधनी मनुष्य को, अर्जुन ! कर्म बांधते नहीं ॥४१॥

इस श्लोक में संशय को दूर करने वाली वस्तु का नाम ज्ञान है, और वह वस्तु है निश्चयाकार बुद्धि। इस बुद्धि की प्राप्ति के उपाय महाराज ने अड़तीसवें और उनतालीसवें श्लोक में बतलाये हैं। श्रद्धा, कर्म में तत्परता, इन्द्रियों का संयम और कर्मयोग का साधन ही इसकी प्राप्ति के उपाय बतलाये गये हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि जब तक श्रद्धा और तत्परता से इन्द्रियों को रोक कर कर्म के साधन में नहीं लग जाता तब तक बुद्धि की स्थिरता असम्भव है। और यह स्थिरता ही निश्चय है। इस प्रकरण का ज्ञान क्या है, यह पाठक जान चुके होंगे। अब इन प्रक्षिप्त श्लोकों का ज्ञान भी पढ़िये—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोह मेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

भावार्थ—नम्रता, पूछताछ और सेवा से उस ज्ञान को जान। तत्ववेत्ता ज्ञानी लोग तुझे उस ज्ञान का उपदेश

करेंगे। उसी ज्ञान से सब भूतों को मेरे और अपने अन्दर देखोगे। उस ज्ञान के मिलने पर फिर ऐसा मोह तुझे न होगा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

आगे चलकर महाराज ने निश्चयाकार बुद्धि का नाम ज्ञान कहा। महाराज का तात्पर्य यह था कि वर्तमान संशय को दूर कर शीघ्र अपने कर्तव्यपथ का निर्णय कर लो। परन्तु इन श्लोकों में आत्मा में सब प्राणियों के दर्शन रूप तत्वज्ञान को ज्ञान कहा है।

इन श्लोकों में कहा गया है कि उस ज्ञान का उपदेश तत्ववेत्ता लोगों से ग्रहण करो, परन्तु आगे चलकर ३८वें श्लोक में महाराज ने कहा है कि कर्मयोग के साधन से वह निर्णय रूप ज्ञान काल पाकर स्वयं ही आत्मा में चमक उठता है। अतः इस पूर्व पर विरोध के कारण इन श्लोकों को प्रक्षिप्त ही मानना पड़ता है।

इन श्लोकों को गीता का अङ्ग ही मान लिया जावे तो क्रम भी ठीक नहीं बैठता। निबन्ध की रीति के अनुसार, पहिले ज्ञान, फिर ज्ञान की प्रशंसा, फिर उसकी प्राप्ति के उपाय और फिर उसका फल लिखा जाना चाहिए। इन प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाल दिया जावे तो यहां ठीक है भी ऐसा ही क्रम। ३३ वें श्लोक में ज्ञान यज्ञ का प्रवचन, ३३ वें के उत्तरार्ध और ३८ वें के पूर्वार्ध में उसकी प्रशंसा, ३९ वें में उसका फल और ४० वें में उसकी अप्राप्ति से हानि बतलाई गई है। इस प्रकार इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मान लेने

पर क्रम ठीक बैठ जाता है। और यदि इन्हें प्रक्षिप्त न माना जावे तो क्रम ठीक बैठता नहीं । ३४ वें श्लोक में साधन बताने आरम्भ किये गये हैं। और फिर आगे के तीन श्लोकों में दूसरा ही विषय छेड़ दिया गया है । इसके बाद ३८ वें श्लोक में फिर साधन बतलाने आरम्भ कर दिये गये हैं।

३६ वें श्लोक में पाप की नाशक वस्तु का नाम, और ३७ वें श्लोक में कर्मों की नाशक वस्तु का नाम ज्ञान कहा गया है। परन्तु पूर्व दिखलाये गये ४१ वें श्लोक के अनुसार इस प्रकरण का ज्ञान संशय का नाशक ज्ञान है इसलिए ये दोनों श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं।
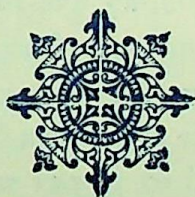
❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप।

पंचम अध्याय।

पांचवें अध्याय में १३ वें श्लोक से लेकर अन्त तक सब प्रक्षिप्त हैं।

यहां कर्म फल के संन्यास का प्रकरण चला हुआ है। बीच में इन श्लोकों के आजाने से प्रकरण टूट जाता है। बारहवां श्लोक यह है—

युक्तः कर्मफलंत्यक्त्वा शान्ति माप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः काम कारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

भाव—कर्म में लगा हुआ कर्मफल को छोड़ कर स्थिर शान्ति को प्राप्त करता है। और कर्मों का त्याग करने वाला कामना के वश में होकर बन्धन में पड़ जाता है।

इन प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर आगे छठे अध्याय का पहिला श्लोक पढ़िये—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥अ० ६ श्लो० १॥

भाव—जो कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्त्तव्य-कर्म को करता है। वह संन्यासी है और योगी है। जिसने अग्न्याधान नहीं किया, अथवा कर्म छोड़ दिये वह नहीं॥ अ० ६ श्लो० १॥

इन दोनों ही श्लोकों में कर्म-फल के त्याग का विधान है। इस लिये ये दोनों श्लोक एक प्रकरण के हैं। परन्तु बीच के श्लोकों में यह विषय नहीं है इस लिये विवश उन्हें प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त कई दोष और भी हैं। कर्म-फल को, त्याग कर कर्म करना ही गीताकार ने योग कहा है। और योगी ही नहीं संन्यासी के लिये भी कर्म का त्याग गीताकार ने अच्छा नहीं समझा, जैसा कि पाठक ऊपर छठे अध्याय के पहिले श्लोक में पढ़ आये हैं। पाँचवें अध्याय के दूसरे श्लोक में कर्म-संन्यास से कर्मयोग को ही उत्तम कहा गया है। और पाँचवें श्लोक में तो यहां तक कह दिया गया है कि संन्यास और योग एक ही चीज़ हैं, अर्थात् कर्म-फल का त्याग ही कर्म का त्याग है, कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं। फिर छठे अध्याय के पहिले श्लोक में तो कर्म छोड़ने-वाले को संन्यासी कहने से ही इन्कार कर दिया है। अठा-रहवें अध्याय में कृष्ण भगवान् ने फिर इसी विषय को स्पष्ट किया है वहां लिखा है—

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ अ० १८ श्लो० ६॥

भाव—हे अर्जुन! इन यज्ञ आदि कर्मों को भी सङ्ग और फल को छोड़कर करना चाहिये, यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि कर्म का त्याग गीताकार की नीति नहीं है। अब आप प्रक्षेपक महोदय की करतूत देखिये। आप लिखते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ अ० ५ श्लो० १३॥

भाव—संयमी देहधारी नौ दर्वाज़ों के नगर में सब कर्मों को मन से त्याग कर न करता हुआ और न कराता हुआ सुख से रहता है।

यहां आपने कर्म के त्याग का विधान कर दिया है जो कि गीताकार की नीति के सर्वथा विरुद्ध है।

आगे चलकर चौदहवें श्लोक में आप लिखते हैं। परमात्मा न कर्म की उत्पत्ति करता है और न किसी को कर्ता बनाता है। यहां तक तो ठीक है। क्योंकि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है वह स्वयं ही कर्म करता है और कर्ता बनता है। परन्तु इस श्लोक के उत्तरार्ध में आप लिखते हैं कि कर्म फल के साथ सम्बन्ध भी परमात्मा नहीं जोड़ता, यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है।

वेद और सभी आस्तिक दर्शन कर्मफल का प्रदाता परमेश्वर को मानते हैं। स्वभाव से कर्मफल का मिलना

नास्तिक दर्शनों में तो माना गया है, आस्तिक इसे कोई भी नहीं मानता। और फिर कर्मफल और कर्म को भी भगवान् के हाथ में सौंपने वाला परम आस्तिक गीताकार इस मत को मानेगा यह समझ में नहीं आता। फलतः ये श्लोक गीताकार के हैं ही नहीं यह सब प्रक्षेपक महोदय की विचित्र लीला है।

ज्ञान से अज्ञान का नाश, समता का भाव, ध्यान योग से ब्रह्म की प्राप्ति, विषय वासना का त्याग, काम और क्रोध का त्याग, जीव की ब्रह्मरूपता और कृष्ण के ज्ञान से शान्ति का लाभ आदि अन्य विषय भी इन प्रक्षिप्त श्लोकों में हैं।

यह स्पष्ट है कि इन विषयों का इस प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये प्रक्षिप्त हैं। ये विषय गीता में अन्यत्र भी आ गये हैं। ध्यान योग से ब्रह्म की प्राप्ति छठे अध्याय में ध्यान योग के प्रकरण में दिखलाई गई है। समत्व योग छठे अध्याय में पांचवें श्लोक से लेकर विस्तार से स्पष्ट किया गया है। इसी अध्याय में अन्यत्र काम और द्वेष का कर्मयोगी के लिये निषेध किया गया है। इस प्रकार जब ये विषय अन्यत्र आ ही गये हैं तो यहां बिना प्रकरण इनके लिखने की क्या आवश्यकता थी। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि कर्मत्याग और जीव की ब्रह्मरूपता के भाव गीता में प्रविष्ट करने के लिये यह प्रक्षेप किया गया है।

❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप।
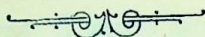
षष्ठ अध्याय

छठे अध्याय के चौदहवें से लेकर तेईसवें तक दश श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रक्षेप में भी प्रसङ्ग का भङ्ग ही कारण है। दशवें श्लोक से लेकर तेरहवें श्लोक तक महाराज ने ध्यानयोग की विधि बतलाई है और आगे चलकर, इन प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ कर चौबीसवें, पचीसवें और छब्बीसवें श्लोक में भी इसी विधि का विधान है। आगे चल कर अठाईसवें और उनतीसवें श्लोक में महाराज ने इस ध्यान योग के दो फल बतलाये हैं, ब्रह्म प्राप्ति और साम्यबुद्धि की सिद्धि। अब इन प्रक्षिप्त श्लोकों के विषय भी सुनिये।

चौदहवें श्लोक में इस अपने प्रसङ्ग को ऊपर के प्रसङ्ग से मिलाने के लिये प्रक्षेप करने वाले महानुभाव ने भी ध्यान योग की विधि ही बतलाई है। पन्द्रहवें श्लोक में ध्यान योग का फल बतलाया गया है। सोलहवें श्लोक से लेकर उन्नीसवें श्लोक तक ध्यानयोग के अधिकारी का वर्णन किया है। बीसवें श्लोक से लेकर तेईसवें श्लोक तक योग का लक्षण किया गया है।

अब पाठक विचार करें कि प्रक्षिप्त श्लोकों के ये सब प्रसङ्ग क्या यहां सङ्गत प्रतीत होते हैं। महाराज यदि ध्यान योग के लक्षण और उसके अधिकारी का निरूपण करना चाहते तो ध्यान योग की विधि आरम्भ करने से पहिले करते, यहां विधि के क्रम का भङ्ग कर बीच में ही इस प्रसङ्ग का उल्लेख किसी प्रकार भी सङ्गत किया नहीं जा सकता। पन्द्रहवें श्लोक में बतलाया गया ध्यान योग का फल भी यहां विधि के बीच में बिना प्रसङ्ग के अयुक्त है। ध्यान योग का यह ही फल, महाराज ने आगे चलकर विधि का प्रसङ्ग समाप्त हो जाने के बाद अठाईसवें श्लोक में बतलाया है इसलिये यह फल का वर्णन पुनरुक्त भी है। इस प्रकार विवेचना की दृष्टि से देखने के बाद विवश यह ही कहना पड़ता है कि ये सब श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

यहां ध्यान योग के प्रसङ्ग में भी कृष्ण भगवान् को ध्येय (परमात्मा) बनाने के लिये और इस प्रसङ्ग को कुछ विस्तार देने के लिये ही यह प्रक्षेप किया गया प्रतीत होता है।

इसी अध्याय का सताईसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। इस श्लोक में ध्यान योग का, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति फल बतलाया गया है। और अठाईसवें श्लोक में भी इसी फल का वर्णन किया गया है, इसलिये पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है। आनन्द को ब्रह्मरूप सिद्ध करने के लिये ही किसी ने इस श्लोक का प्रक्षेप किया प्रतीत होता है। क्योंकि अठाईसवें श्लोक में आनन्द को, ब्रह्म सम्बन्धी (ब्रह्म का धर्म) कहा है। इसी

अध्याय में तीसवां और इकतीसवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ऊपर से समत्व योग का वर्णन चला आ रहा है। और आगे चलकर बत्तीसवें श्लोक में भी यह ही विषय है, इन दोनों श्लोकों को मिलाकर पाठक पढ़ें—

सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः ॥२९॥
आत्मौ पम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं, सयोगी परमोमतः ॥३२॥

भाव—सर्वत्र सम भाव से देखने वाला योग से युक्त आत्मा अपने आपको सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने अन्दर देखता है ॥२९॥

आगे इसे ही स्पष्ट किया गया है—

दूसरे के सुख को अपने सुख के समान और दूसरे के दुःख को अपने दुःख के समान सर्वत्र जो देखता है वह परम योगी है ॥३२॥

अब बीच के एक प्रक्षिप्त श्लोक का भी नमूना देखिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

भाव—जो मुझमें सबको और सबमें मुझे देखता है। उसका और मेरा सम्बन्ध नष्ट नहीं होता। अब पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि "योगिराज कृष्ण को व्यापक देखने

वाला उसके सम्बन्ध से दूर नहीं होता" यह भाव यहां समत्व योग के बीच में बिना प्रकरण कहां से आ गया ?

इस अध्याय का सैंतालीसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। छठे अध्याय में महाराज ने, ध्यानयोग के द्वारा, इन्द्रियों और मन के निरोध से, आनन्द की प्राप्ति और साम्य बुद्धि की सिद्धि दो लाभ बतलाये थे। इसके बाद ध्यान योग से ही, भगवान् की भक्ति के द्वारा, परम पुरुष की प्राप्ति का उपदेश करना था। परन्तु बीच में ही अर्जुन ने अपूर्ण ध्यान योगी की गति के विषय में प्रश्न कर दिया। महाराज ने, इस प्रश्न का उत्तर देने के बाद छठे अध्याय के छियालीसवें श्लोक में कर्मयोगी की प्रशंसा करते हुए नीचे लिखे श्लोक में उसी विषय को फिर आरम्भ कर दिया है—

अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्य गामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥अ० ८ श्लो० ८॥

भावार्थ—अर्जुन ? ध्यानयोग के द्वारा अन्य वस्तुओं से, रोके हुए चित्त से परमात्मा का चिन्तन करता हुआ मनुष्य, परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है ॥अ० ८ श्लो० ८॥ यह आठवें अध्याय का आठवां श्लोक है। इसके आगे भी आठवें अध्याय के बाईसवें श्लोक तक यह ही प्रसङ्ग चला गया है। अब आप इस प्रक्षिप्त श्लोक को भी पढ़िये—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्त तमोमतः ॥४७॥

भावार्थ—सब योगियों में उत्तम वह योगी है, जो मेरे अन्दर ध्यान लगाकर मेरी ही भक्ति करता है ॥४७॥

आठवें अध्याय के पांच श्लोकों में महाराज ने दिव्य परम पुरुष भगवान् की भक्ति का ध्यान योगी को उपदेश दिया है। और यहां अपनी भक्ति का उपदेश उसे ही दे रहे हैं। यहां कृष्ण भगवान् को परमात्मा मान लें तो यह उपदेश पुनरुक्त हो जाता है। और यदि परमात्मा न मानें तो अपने आपको भगवान् से भी बड़ा महात्मा कृष्ण कह नहीं सकते। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह श्लोक महाराज का अपना नहीं प्रक्षेपक महोदय का है। भक्ति योग का प्रसङ्ग आगे चलकर आरम्भ किया गया है, इस बात को ध्यान में रखकर महात्मा कृष्ण को परमात्मा बनाने के अभिलाषी प्रक्षेपक ने कृष्ण भगवान् की भक्ति का राग पहिले से ही अलापना आरम्भ कर दिया है, जिससे कि उनका यह प्रसङ्ग भी अगले प्रसङ्ग का अङ्ग समझा जा सके।
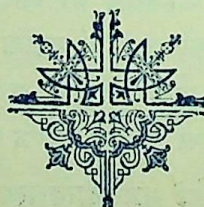
❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप ।

सप्तम अध्याय ।

सातवां अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के पहिले सात श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

ध्यान योग का प्रकरण अभी समाप्त नहीं हुआ आठवें अध्याय के आठवें श्लोक से लेकर बाईसवें श्लोक तक भक्ति गर्भित ध्यान योग से परम पुरुष की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है । छठे अध्याय के अन्त में भी ध्यान योग का ही प्रकरण था, और आठवें अध्याय के आठवें श्लोक में भी यह ही प्रकरण है । इस प्रकरण के बीच में आया हुआ सातवां अध्याय और आठवें अध्याय के सात श्लोक इस प्रसङ्ग का भङ्ग कर देते हैं अतः प्रक्षिप्त हैं ।

सातवें अध्याय के प्रक्षिप्त होने में एक और भी प्रबल युक्ति है । उसे जानने के लिये पाठक पहिले सातवें अध्याय का दूसरा श्लोक पढ़ें—

ज्ञानन्तेऽहं सविज्ञान मिदं वक्ष्याम्य शेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्य मवशिष्यते ॥७॥२॥

अब मैं तुझे ज्ञान और विज्ञान का उपदेश करता हूँ। जिसे जान कर फिर और कुछ जानना शेष न रहेगा ॥७।२॥

इस श्लोक में ज्ञान और विज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु इस सारे ही अध्याय में ज्ञान और विज्ञान का वर्णन किया नहीं गया। गीता में सदाचार और संयम के कुछ निश्चित नियमों का नाम ज्ञान है। और उसका वर्णन तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक किया गया है। वहां उपसंहार में लिखा है—

एतज्ज्ञान मिति प्रोक्त मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३॥११॥

भावार्थ—यह ज्ञान कहा गया है, और इससे विपरीत का नाम अज्ञान है ॥१३॥११॥

पाठक ध्यान से पढ़ेंगे तो उन नियमों की चर्चा इस अध्याय में कहीं भी न मिलेगी। विज्ञान का निरूपण गीता में चौदहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय के अन्त तक किया गया है। विज्ञान के निरूपण में कई प्रकरण हैं। साधारण दृष्टि से उन सब प्रकरणों में, सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के कार्यों, तथा अन्तःकरण पर उनके प्रभाव की व्याख्या की गई है। इस गुण विवेक का भी निरूपण प्रधान रूप से इस अध्याय में नहीं है। इस अध्याय में कृष्ण भगवान् की भक्ति, उनकी सर्व व्यापकता, उनकी भक्ति करने से लाभ और न करने से हानि, कहीं-कहीं गौण रूप से सत्व

आदि गुणों का भी उल्लेख, केवल इनहीं विषयों का वर्णन है। ज्ञान और विज्ञान का वर्णन इस अध्याय में आ भी नहीं सकता था क्योंकि यह प्रतिज्ञा कृष्ण भगवान् की नहीं थी प्रक्षेपक महोदय की थी। कृष्ण भगवान् ने यह प्रतिज्ञा नवें अध्याय के आरम्भ में की है। पाठक उसे भी पढ़ें—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥९ । १॥

भाव—श्रद्धालु अर्जुन तुझे यह छिपा तत्व, ज्ञान और विज्ञान बतलाता हूँ जिसे जान कर अमङ्गल से बच जावेगा।

अब पाठक समझ गये होंगे कि यदि सातवें अध्याय वाली प्रतिज्ञा योगिराज कृष्ण की होती तो नवें अध्याय के आरम्भ में यह प्रतिज्ञा फिर क्यों करते।

प्रक्षेपक महोदय ने यह चाल तो बहुत अच्छी चली थी, परन्तु आप चूक गये। ध्यान योग के बाद ज्ञान विज्ञान के निरूपण का ही प्रसङ्ग है। क्योंकि ध्यान योग का आरम्भ करते हुए छठे अध्याय के आठवें श्लोक में लिखा है कि— "जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो, ज्ञान और विज्ञान से आत्मा को तृप्त कर लिया हो, मिट्टी पत्थर और सोने को समान समझने लग गया हो वह योगी योग में लगा हुआ कहा जाता है"। इस प्रकार गीताकार ने योगी के लिये ज्ञान और विज्ञान का जानना आवश्यक तो बतलाया है, परन्तु अभी तक उसका निरूपण नहीं किया था। अब उसके

ही निरूपण की बारी है। बस इस सङ्गति को देखकर प्रक्षेपक महोदय ने गीताकार के ज्ञान विज्ञान प्रकरण से पहिले अपना ज्ञान विज्ञान आरम्भ करना आवश्यक समझा ताकि आपका यह प्रक्षेप भी उसी ज्ञान विज्ञान के प्रकरण के बीच में आ जावे। परन्तु आपसे दो भूलें हो गईं। एक यह कि आपने ध्यान योग के समाप्त होने से प्रथम ही इसे आरम्भ कर दिया। और दूसरी यह कि नवें अध्याय के प्रथम श्लोक को आपने निकाल न दिया। यदि उस श्लोक को निकाल देते या उसके बाद आरम्भ कर देते और ज्ञान विज्ञान के सम्बन्ध में अपनी प्रतिज्ञा न लिखते तो कदाचित् आपका तीर चल ही जाता। अस्तु अब पाठक समझ गये होंगे कि सातवां अध्याय प्रक्षिप्त है। और आठवें अध्याय के सात श्लोक भी इन्हीं दो कारणों से प्रक्षिप्त हैं।
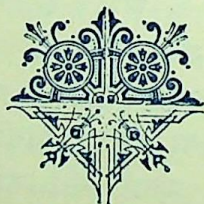
* ओम् *

गीता में प्रक्षेप ।

अष्टम अध्याय ।

आठवें अध्याय के बारहवें से लेकर इक्कीसवें तक दश श्लोक प्रक्षिप्त हैं। प्रक्षेप में कारण यह है कि ये श्लोक प्रसङ्ग को तोड़ते हैं। सङ्गति को समझने के लिये पाठक इस अध्याय का ग्यारहवां और बाईसवां श्लोक पढ़ें—

यदक्षरं वेद विदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्व मिदंततम् ॥२२॥

भाव—जिस अविनाशी का वेद के जानने वाले वर्णन करते हैं। और राग रहित यति लोग जिसको प्राप्त करते हैं। जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। उस पद को तुझे संक्षेप से बताता हूँ ॥११॥

हे अर्जुन वह पद परम पुरुष है, और अनन्य भक्ति से मिलता है। उसी के अन्दर सब भूत हैं। और उसी ने यह सब विस्तार किया है ॥२२॥

पाठक इन दोनों श्लोकों के परस्पर सम्बन्ध को देखें। और इसके बाद प्रक्षेपक महोदय के भी दो श्लोक पढ़ें जो कि उन्होंने ग्यारहवें श्लोक के आगे लिखे हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण मास्थितोयोगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

भाव—सब द्वारों को रोक कर और मन का हृदय में निरोध कर, अपने प्राणों को मस्तिष्क में ठहरा कर योग की धारणा करता हुआ ॥१२॥

ओ३म् इस अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर को छोड़ कर जाता है वह परमगति को प्राप्त करता है ॥१३॥

अब आप इन श्लोकों की भी सङ्गति ११वें श्लोक से मिलावें। कहिये ठीक बैठती है ?

छठे अध्याय के आठवें श्लोक से लेकर गीताकार ने ध्यान योग की विधि विस्तार से बतलाई है और अब आठवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में ध्यान योग से प्राप्त किये जाने वाले परमदेव परमात्मा के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। और उसी पद का स्वरूप बतलाने के लिये अर्जुन को निर्देश कर रहे हैं। परन्तु हमारे प्रक्षेपक महोदय अब आठवें अध्याय के बारहवें श्लोक में ध्यान योग की विधि

बतलाने चले हैं। अब आप प्रक्षिप्त श्लोकों को बीच में से निकाल कर बाईसवें श्लोक के भाव को देखें। आप अनुभव करेंगे कि इस श्लोक में उसी पद को बतलाया गया है जिसे बतलाने के लिये ग्यारहवें श्लोक में कहा गया था। ध्यान देने पर यह भी पता लगेगा कि इस सारे प्रक्षिप्त भाग में योगिराज कृष्ण को परमेश्वर बनाने का भाव काम कर रहा है। और इसी लिये यह प्रक्षेप किया गया है। अस्तु अब पाठक यह निश्चय कर चुके होंगे कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

अष्टम अध्याय के तेईसवें श्लोक से लेकर सताईसवें तक पांच श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

भक्ति और ध्यान योग के द्वारा परम पुरुष के ध्यान के ज्ञान की प्रशंसा अठाईसवें श्लोक में की गई है। श्लोक नीचे पढ़िये—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्य फलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्व मिदं विदित्वा योगी परं स्थान मुपैति चाद्यम्॥२८॥

वेद पाठ, यज्ञ, तप और दान करने से जो पुण्य कहा गया है। उस सबसे "ध्यान और भक्ति योग के द्वारा भगवान् की उपासना के विधान को जानकर अधिक पुण्य प्राप्त कर लेता है। और सबसे श्रेष्ठ तथा आदि पद भगवान् को प्राप्त होता है॥२८॥

इन श्लोकों के बीच में आ जाने से अठाईसवें श्लोक के 'इदम्' पद का सम्बन्ध बाईसवें श्लोक से टूट जाता है, और वह प्रसङ्ग उपसंहार के बिना ही रह जाता है। और

काल विशेष में प्रयाण के वर्णन का यहां कोई प्रसङ्ग भी न था। साम्यबुद्धि की सिद्धि के लिये ध्यान योग का और उसी के प्रसङ्ग से ध्यान योग के फल का निरूपण आवश्यक था सो हो चुका। अब पूर्वोक्त ज्ञान और विज्ञान का ही निरूपण होना चाहिये। तीसरी बात यह है कि इन श्लोकों को ग्रन्थकार के मान लेने पर अठाईसवें श्लोक का सम्बन्ध इन्हीं श्लोकों से मानना पड़ जावेगा। क्योंकि दूसरे प्रकरण के आरम्भ होने से पहिला प्रकरण बाईसवें श्लोक पर ही समाप्त हो चुका। और किसी विशेष काल में प्रयाण के ज्ञान को शास्त्रीय दृष्टि से इतना महत्व दिया नहीं जा सकता कि वेद, यज्ञ, तप और दान के पुण्य से भी उसका फल ऊँचा कहा जा सके। इसलिये ये सब श्लोक प्रक्षिप्त ही हैं। ग्रन्थ को विस्तृत करना ही इनके प्रक्षेप में उद्देश होगा।

❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप ।

९वम, १०शम, ११दश तथा १२दश अध्याय ।

नवें अध्याय के प्रथम श्लोक को छोड़कर, नवां, दशवां, ग्यारहवां और बारहवां सभी अध्याय प्रक्षिप्त हैं। जैसे कि हम पहिले लिख आये हैं नवें अध्याय के आरम्भ में ज्ञान और विज्ञान का उपदेश करने की प्रतिज्ञा की गई है। और इस अध्याय में तथा आगे के तीन अध्यायों में भी ज्ञान और विज्ञान का कहीं नाम तक भी नहीं है। नवें अध्याय में जो विषय हैं उनकी सूची इस प्रकार है—

१—यह सब मेरा ही किया हुआ विस्तार है।

२—सब भूत मेरे ही अन्दर हैं।

३—प्रलय में यह सब मुझ में ही लीन हो जाता है।

४—वे मूर्ख हैं जो मेरी इस महत्ता को नहीं जानते और मनुष्य समझ कर अपमान करते हैं।

५—ऋषि लोग मुझे ही भजते चले आये हैं।

६—मेरी ही भक्ति से परम गति मिलती है।

दशवें अध्याय में कृष्ण भगवान् की विभूतियों का वर्णन किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया है।

बारहवें में योगिराज कृष्ण ने यह प्रकट किया है कि जो मेरे भक्त हैं वे ही मेरे प्यारे हैं।

इस प्रकार इन सब अध्यायों में जो विषय हैं वे ज्ञान विज्ञान नहीं हैं। और यह सब उद्योग योगिराज कृष्ण को पूर्णरूप से परमेश्वर बनाने के लिये ही किया गया है। प्रक्षेपक महोदय ने तो ज्ञान और विज्ञान में सम्मिलित कर देने के लिये ही इन्हें यहां लिखा है। परन्तु गीताकार के मत में ये ज्ञान और विज्ञान हैं नहीं। ज्ञान का व्याख्यान गीताकार ने तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक किया है। और अन्त में लिखा है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त मज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३॥ ११॥

भाव—ऊपर जो कुछ कहा यह ज्ञान और इससे विपरीत का नाम अज्ञान है। इस प्रकार संयम और त्याग पूर्वक जीवनचर्या को गीताकार ने ज्ञान कहा है। यह शङ्का की जा सकती है कि इस ग्यारहवें श्लोक से प्रथम वाला बारहवां, ग्यारहवां और दशवां अध्याय भी ज्ञान क्यों नहीं? पहिले होने के कारण वे भी तो 'एतत्' पद से ग्रहण किये जा

सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्तमान गीता ऐसा करने से रोकती है। इसी अध्याय के अठारहवें श्लोक में लिखा है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥१३॥ १८ ॥

भाव—यह क्षेत्र, ज्ञान, और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया ॥ १३ ॥ १८ ॥

इस तेरहवें अध्याय में पहिले ६ श्लोकों में क्षेत्र का वर्णन किया है। सातवें श्लोक से ग्यारहवें श्लोक तक ज्ञान का वर्णन है। और १२वें श्लोक से १७वें श्लोक तक ज्ञेय का वर्णन किया गया है। क्षेत्र और ज्ञेय के बीच का ज्ञान यह तेरहवें अध्याय का ज्ञान ही है, १२वां, ११वां और दशवां अध्याय इस में सम्मिलित नहीं किये जा सकते।

सत्व आदि गुण और आत्मा के विवेक ज्ञान को गीता में विज्ञान कहा गया है। विज्ञान का अर्थ विशेष ज्ञान अर्थात् ऊँचा ज्ञान। और इस विज्ञान का व्याख्यान गीता के चौदहवें अध्याय से आरम्भ किया गया है और गीता के अन्त में ही जाकर यह समाप्त हुआ है। चौदहवें अध्याय के आरम्भ का श्लोक पढ़िये—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४ ॥ १॥

भाव—इस से आगे ज्ञानों में उत्तम ज्ञान का वर्णन करते हैं। जिसे जान कर सब मुनि उत्तम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार विज्ञान के वर्णन में भी दशवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्याय का प्रवेश नहीं हो सकता। इस लिये नवें अध्याय के दूसरे श्लोक से लेकर तेरहवें अध्याय के छठे श्लोक तक सारा प्रकरण ही प्रक्षिप्त है।
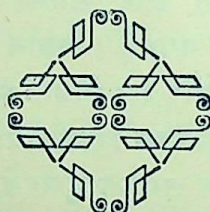
* ओम् *

गीता में प्रक्षेप।
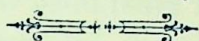
त्रयोदश अध्याय।

तेरहवें अध्याय के प्रथम से लेकर छ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रक्षेप में एक कारण तो पहिले बतलाया जा चुका है कि नवें अध्याय में जिस ज्ञान का वर्णन करने के लिये कहा गया था वह वर्णन इस अध्याय के सातवें श्लोक से आरम्भ होता है। इस लिये ये प्रथम छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं। अब शङ्का यह होती है कि ये छः श्लोक ही ज्ञान क्यों न मान लिये जावें। क्योंकि यहां दूसरे श्लोक में कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥१३॥२॥

भाव—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है उसी को मैं ज्ञान मानता हूँ। इस प्रकार इस श्लोक में बताये गये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही ज्ञान क्यों न माना जावे।

यह ठीक है। परन्तु क्षेत्र का प्रकरण छठे श्लोक पर समाप्त हो जाता है। और सातवें श्लोक से जो प्रकरण चलता है उसके अन्त में भी यह ही लिखा है—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३॥११॥

यह जो कुछ कहा गया इसी का नाम ज्ञान है और जो इसके विरुद्ध है वह अज्ञान है। इस प्रकार यहां मतभेद हो जाता है। विचार उपस्थित होता है कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ज्ञान माना जावे, या उसके बाद जिसका वर्णन है उसे ज्ञान माना जावे। और इसका निर्णय भी वर्तमान गीता ही कर देती है। आगे चल कर इसी अध्याय के अठारहवें श्लोक में कहा गया है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥ १३।१८॥

भाव—यह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि पहिले छः श्लोकों में क्षेत्र का वर्णन है ज्ञान का नहीं। और उससे आगे के पांच श्लोकों में ज्ञान का और उससे आगे के छः श्लोकों में ज्ञेय का वर्णन है। इससे स्पष्ट है ज्ञान का वर्णन सातवें श्लोक से आरम्भ हुआ है। नवें अध्याय के प्रथम श्लोक की प्रतिज्ञा के अनुसार अब ज्ञान का ही वर्णन आरम्भ होना चाहिये। परन्तु आरम्भ कर दिया गया है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन। इसलिये इन छः श्लोकों में बिना प्रसङ्ग के किया गया यह वर्णन प्रक्षिप्त है। ध्यान रहे कि यह प्रक्षेप भी कृष्ण भगवान् को सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ बनाने के लिये किया गया है।

इसी अध्याय में दशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। श्लोक यह है—

मयि चानन्य योगेन भक्ति रव्यभिचारिणी ।

विविक्त देशसेवित्व मरतिर्जन संसदि ॥१०॥१३॥

भाव—घनिष्ठ सम्बन्ध से केवल मेरी ही भक्ति करना एकान्त स्थान में लोगों के समुदाय से अलग रहना ॥१०॥१३॥

इस श्लोक के उत्तरार्ध का विषय नवें श्लोक में आ गया है। उस श्लोक का पूर्वार्द्ध पढ़िये—

असक्ति रनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ॥१३॥९॥

सङ्ग से पृथक् रहना, और पुत्र, स्त्री, घर आदि से भी दूर रहना ॥१३॥९॥

इस श्लोक को पढ़कर पाठक समझ गये होंगे कि दशवें श्लोक के पिछले भाग का भाव इसमें आ गया है। इसलिये वह भाग पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है और उसका आधा भाग प्रक्षिप्त हुआ तो सुतरां सारा श्लोक ही प्रक्षिप्त ठहर जाता है। कृष्ण भगवान् को अनन्य भक्ति का पात्र दिखलाने के लिये ही इस श्लोक का प्रक्षेप किया गया प्रतीत होता है।

जैसे कि पहिले ध्यान योग के प्रकरण में ध्यान के योग्य ध्येय परमात्मा का कुछ निरूपण कर दिया गया था। इसी प्रकार यहां ज्ञान के प्रसङ्ग में ज्ञेय (जानने योग्य) परमात्मा का भी वर्णन कर दिया गया है। यह वर्णन इस अध्याय के सत्रहवें श्लोक में समाप्त हो गया है। इसके बाद अठारहवें श्लोक में प्रक्षेपक महोदय ने, अपने क्षेत्र के

वर्णन का उपसंहार किया है। यह उपसंहार क्षेत्र का वर्णन प्रक्षिप्त होने के कारण प्रक्षिप्त ही है। अब इसके आगे सङ्गति के अनुसार विज्ञान का वर्णन आरम्भ होना चाहिये। और विज्ञान का वर्णन जैसे कि हम प्रथम लिख आये हैं, चौदहवें अध्याय के पहिले श्लोक से आरम्भ किया गया है। इसलिये इस अध्याय के सत्रहवें श्लोक और चौदहवें अध्याय के प्रथम श्लोक के बीच में जो कुछ लिखा गया है वह सब प्रक्षिप्त है।

इस प्रक्षिप्त प्रकरण में प्रधान रूप से प्रकृति और पुरुष का स्वरूप तथा उनके सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। और यह वर्णन प्रकारान्तर से विज्ञान के प्रकरण में भी आ गया है इसलिये पुनरुक्त होने से भी प्रक्षिप्त है। इस प्रकरण में "ब्रह्म सम्पद्यते तदा (उस समय ब्रह्म हो जाता है)" यह प्रसङ्ग लाकर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिये प्रक्षेपक महोदय ने यह प्रक्षेप किया है।
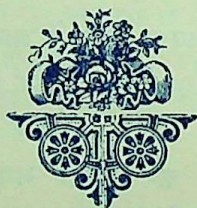
❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप ।

चतुर्दश अध्याय ।

चौदहवें अध्याय में दूसरा तीसरा और चौथा श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यहां प्रथम श्लोक में विज्ञान का उपदेश करने के लिये कहा गया है। इस उपदेश का आरम्भ पांचवें श्लोक से हुआ है। परन्तु दूसरे श्लोक में विज्ञान का वर्णन किये विना ही उसका फल कहना आरम्भ कर दिया है। और वह फल है कृष्ण भगवान् के साथ समता की प्राप्ति। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण भगवान् का प्रसङ्ग छेड़ने के लिये ही फल कहना आरम्भ किया गया है। हमारे इस कथन में प्रमाण हैं, इस फल का वर्णन करने वाले श्लोक से आगे के दोनों प्रक्षिप्त श्लोक। पाठक उन्हें पढ़ें—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत ॥१४॥३॥
सर्व योनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनि रहं बीज प्रदः पिता ॥१४॥४॥

भाव—महत् ब्रह्म मेरी योनि है। मैं उसमें गर्भ का आधान करता हूँ। हे अर्जुन सब भूतों की उत्पत्ति उससे

ही होती है ॥३॥ हे अर्जुन सब योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी योनि महत् ब्रह्म है। और मैं बीज डालने वाला पिता हूँ ॥४॥

इन श्लोकों में विज्ञान के लाभ या फल का कहीं नाम भी नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन आरम्भ कर दिया है। विज्ञान के प्रकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण भगवान् को सब सृष्टि का बीज देने वाला प्रकट करने के लिये ही पहिले श्लोक में फल का प्रसङ्ग छेड़ कर कृष्ण का प्रसङ्ग छेड़ा गया था। इसलिये ये तीनों ही श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

इस अध्याय में उन्नीसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। उन्नीसवें और बीसवें दोनों ही श्लोकों में गुणों से पुरुष को पृथक् जान लेने पर मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। उन दोनों ही श्लोकों को पाठकों के सुभीते के लिये हम नीचे लिखते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधि गच्छति ॥१४॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्यु जरा दुखै र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१४॥२०॥

भाव—जब द्रष्टा (आत्मा) गुणों को ही कर्ता समझ लेता है, और अपने आप को गुणों से पृथक् जान लेता है तो मेरे स्वरूप को (मुक्ति को) प्राप्त कर लेता है ॥१९॥

मुक्ति का यह स्वरूप ठीक है या नहीं इसके बतलाने का यहां प्रसङ्ग नहीं।

शरीरधारी आत्मा शरीर सम्बन्धी इन तीन गुणों से ऊँचा उठकर (अपने आपको इनसे पृथक् जानकर) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे और दुःखों से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥२०॥

भाव को पढ़कर पाठक यह तो समझ गये होंगे कि इन दोनों श्लोकों में एक ही विषय है। इसलिये इस भाव को प्रकट करने के लिये यहां इन दोनों की नहीं एक ही श्लोक की आवश्यकता थी। अब विचार यह उपस्थित होता है कि इनमें से किसे गीताकार का और किसे प्रक्षिप्त माना जावे। इस प्रश्न का निर्णय हम गीता से ही कराना चाहते हैं। और उस निर्णय को जानने के लिये पाठक इससे अगले श्लोक में किया हुआ अर्जुन का प्रश्न पढ़ें—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथञ्चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥१४॥२१॥

भगवन्! किन साधनों से मनुष्य इन तीन गुणों से ऊँचा उठता है। किस आचार वाला और कैसे इन तीन गुणों से पार होता है ॥२१॥

इस प्रकार बीसवें श्लोक के शब्दों और भावों को यहां आधार बनाया गया है। इस लिये बीसवां श्लोक ही गीताकार का अपना श्लोक है, उन्नीसवां प्रक्षिप्त है। कृष्ण भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति को मुक्ति बतलाना ही प्रक्षेपक का उद्देश

है। इसी अध्याय में छब्बीसवां और सताईसवां श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं। ये श्लोक इस अध्याय के अन्त में हैं। पचीसवें श्लोक में अर्जुन के "गुणातीत कौन है?" प्रश्न का उत्तर समाप्त हो गया है। उपसंहार में कह दिया गया है—

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥१४॥२५॥

भाव—जिसकी सब प्रवृत्तियें छूट जावें वह गुणातीत है ॥२५॥

इस से आगे छब्बीसवां और सताईसवां श्लोक पढ़िये—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१४॥२७॥

जो अनन्य भक्ति से मेरा भजन करता है। वह इन गुणों से पार होकर ब्रह्म रूप को प्राप्त होता है ॥२६॥

अमर और अविकारी ब्रह्म की मुझ में ही स्थिति है। मोक्ष और अनादि धर्म की भी मुझ में ही स्थिति है ॥२७॥

अर्जुन का प्रश्न केवल यह था कि गुणातीत कौन है। उसका उत्तर पचीसवें श्लोक में दे दिया गया है। कृष्ण की उपासना और उस में ब्रह्म की स्थिति बतलाने का यहां कोई प्रसङ्ग न था। यह विज्ञान का प्रसङ्ग चला हुआ है। यदि उसी के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता तो ठीक था।

---

* ओम् *

गीता में प्रक्षेप।

पञ्चदश अध्याय।

पन्द्रहवां अध्याय सारा ही प्रक्षिप्त है। चौदहवें अध्याय के आरम्भ से विज्ञान का प्रकरण चला है। यह प्रकरण बड़ा लम्बा है। अभी यह समाप्त नहीं हुआ। अठारहवें अध्याय के त्रेसठवें श्लोक में इसकी समाप्ति हुई है। समाप्ति का श्लोक यह है—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८॥६३॥

यह गुप्त से गुप्त ज्ञान का तुम्हें उपदेश किया। इसे विचार कर जैसी इच्छा हो वैसा करो।

इस प्रकार चौदहवें अध्याय के आरम्भ से अठारहवें अध्याय के ६३वें श्लोक तक यह एक ही प्रकरण है। इस सारे ही प्रकरण में सत्व, रज और तम इन तीन गुणों और आत्मा का ही भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है। चौदहवें अध्याय में गुणों का और पुरुष का स्वरूप तथा

उनका सम्बन्ध बतला कर उनके विवेक पर बल दिया गया है। और उस विवेक का लाभ मुक्ति बतलाया गया है। सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में यह बतलाया गया है कि ये गुण मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में विभिन्न रूप से व्यापक हैं। और प्रत्येक व्यवहार की उत्तमता और अधमता इन्हीं गुणों की विशेषता के आधार पर होती है। मनुष्य के, सम्पत्ति, श्रद्धा, धृति, बुद्धि, कर्ता, करण, आहार, व्यवहार, यज्ञ, दान, तप सारे ही गुण कर्म इन गुणों से ओत प्रोत हैं। कहीं तमोगुण का विशेष हाथ है, कहीं रजोगुण का राज्य है, और कहीं सत्वगुण का अधिक अधिकार है। इस प्रकार इन अध्यायों में गुणों की व्यापक सत्ता को दिखला कर मोक्ष के अधिकारी को अधिक सावधान किया गया है। जैसे ध्यान योग के बाद ध्येय परमात्मा का निरूपण किया गया था। और ज्ञान का निरूपण कर ज्ञेय परमात्मा का स्वरूप दिखलाया गया था। इसी प्रकार यहां भी विज्ञान का निरूपण करने के पश्चात् अर्जुन को कहा गया है कि केवल यह विवेक ज्ञान ही अन्तिम ध्येय नहीं है। यह भी परमेश्वर के समीप पहुँचने का एक साधन है इस लिये उस जगन्नियन्ता की शरण में जाओ।

अब पाठक समझ गये होंगे कि चौदहवें से लेकर अठारहवें अध्याय तक यह एक ही प्रकरण है। इसलिये इस प्रकरण में गुणों और पुरुष के विवेचन से भिन्न दूसरा और कोई विषय न आना चाहिये।

परन्तु पन्द्रहवें अध्याय में अन्य कई विषय आ गये हैं। आरम्भ में परमात्मा और संसार का अलङ्कार रूप से वर्णन आरम्भ किया गया है। और आगे चलकर परमात्मा के स्थान पर कृष्ण भगवान् को खड़ा कर दिया गया है। अब कृष्ण भगवान् का उपदेश आरम्भ हो गया है।

"जीव मेरा ही अंश है, शरीर से जाता हुआ जीव इन्द्रियों को साथ लेजाता है, मन इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता है, सूर्य चन्द्रमा और अग्नि में मेरा ही तेज है, मैं ही पृथिवी का धारण और पोषण करता हूँ, मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, क्षर और अक्षर से परे मैं ही पुरुषोत्तम (परमात्मा) हूँ, ज्ञानी लोग मुझे ही भजते हैं।" यह सब उनके उपदेश का विषय है। अब पाठक स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि पन्द्रहवें अध्याय में दिखलाये गये इन विषयों का इस प्रकरण के साथ क्या सम्बन्ध है। गीताकार को परमात्मा के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था वह उसने इस प्रकरण के अन्त में कहा है।

परन्तु प्रक्षेपक महोदय से न रहा गया, और आपने प्रकरण के बीच में ही कृष्ण भगवान् को परमेश्वर बनाने के लिये ईश्वर का विषय छेड़ दिया। आरम्भ से लेकर अब तक आप इसी नीति पर चलते चले आ रहे हैं। पाठक कदाचित् यह शङ्का करें कि यह अध्याय विज्ञान के प्रकरण में आ गया है इसलिये इसे भी विज्ञान का अङ्ग ही क्यों न मान लिया जावे! इसके लिये मेरे दो निवेदन हैं। एक तो

यह कि इस अध्याय में वह विषय नहीं है जिसे कि गीता में विज्ञान कहा गया है। और दूसरा यह है कि गीताकार ने अपने विज्ञान को अठारहवें अध्याय में जाकर समाप्त किया है, और पन्द्रहवें अध्याय का प्रकरण इसी अध्याय में समाप्त हो गया है। अन्तिम श्लोक पढ़िये—

इतिगुह्यतमं शास्त्र मिद मुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृत कृत्यश्च भारत ॥१५॥२०॥

हे निर्दोष अर्जुन! यह मैंने तुम्हें गुप्त शास्त्र का उपदेश किया। इसे जानकर तुम बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाओगे ॥१५॥२०॥

यदि यह प्रकरण भी गीताकार के विज्ञान का ही अङ्ग होता तो इसके लिये भी गीताकार का वह आठवें अध्याय वाला उपसंहार ही पर्याप्त था। यहां इसके समाप्त करने की कोई आवश्यकता न थी। इससे प्रकट है कि यह प्रकरण प्रक्षेपक महोदय का ही शास्त्र है कृष्ण भगवान् का नहीं।

❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप ।

षोड़श अध्याय ।
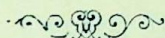
सोलहवें अध्याय में अठारहवां, उन्नीसवां और बीसवां श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इस अध्याय में सत्व गुण से प्रकट होने वाली दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया गया है । और उसके बाद इन श्लोकों से पहिले, तमोगुण से प्रकट होने वाली आसुरी सम्पत्ति का वर्णन चल रहा है । आसुरी सम्पत्ति वालों के जो काम, क्रोध, दर्प, अभिमान आदि दुर्गुण इस अठारहवें श्लोक में दिखलाये गये हैं वे सब पहिले आ चुके हैं । यहां उनका फिर दिखलाना पुनरुक्ति ही है । इन लोगों के लिये फल भी पहिले सोलहवें श्लोक में "पतन्ति नरकेऽशुचौ (वे अपवित्र नरक में गिरते हैं)" यह दिखला दिया गया है । अब फिर दूसरी बार बीसवें श्लोक में उनके लिये अधम गति का दिखलाना भी पुनरुक्ति ही है । परन्तु हमारे प्रक्षेपक महोदय के शिर पर तो यह धुन सवार है कि कृष्ण भगवान् को परमेश्वर प्रकट करने से गीता का कोई प्रकरण बचा न रहे । और इसी भावना से आपने यहां आसुरी सम्पत्ति में किसी न किसी ढङ्ग से उनका प्रकरण छेड़ ही दिया है ।

❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप ।

सप्तदश अध्याय ।

सत्रहवें अध्याय में पांचवां और छठा श्लोक प्रक्षिप्त हैं। सोलहवें अध्याय में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन समाप्त हो गया है। और इस सत्रहवें अध्याय में सत्व, रज और तमोगुण से उत्पन्न होने वाली अनेक वस्तुओं के तीन तीन भेद दिखलाये गये हैं। इन दो श्लोकों से पहिले श्रद्धा के तीन भेद दिखलाये जा चुके हैं। और इनसे आगे सातवें श्लोक से आहार, यज्ञ, तप, दान आदि के तीन-तीन भेद बतलाने आरम्भ किये गये हैं। अब इस प्रकरण के बीच में ही प्रक्षेपक देवता भी आ कूदे हैं। और आपने यहां फिर उसी सातवें अध्याय की आसुरी सम्पत्ति का बेसुरा राग अलापना आरम्भ कर दिया है। आपके घड़े हुए श्लोक पाठक नीचे पढ़ें—

अशास्त्र विहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कार संयुक्ताः काम राग बलान्विताः ॥१७॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूत ग्राम मचेतसः ।
माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्धयासुर निश्चयान् ॥१७।६॥

भाव—जो दम्भी, अहङ्कारी, कामी और रागी लोग शास्त्र विधि के विना भयङ्कर तप करते हैं ॥१७।५॥

शरीर के भूत समुदाय को और शरीर में रहते हुए को मुझे भी कृष करते हैं। वे आसुरी निश्चय वाले हैं ॥१७।६॥

पाठक गीता को ध्यान से पढ़ें और देखें कि इस आसुरी सम्पत्ति का यहां क्या प्रकरण था। परन्तु प्रकरण हो या न हो प्रक्षेपक महोदय के विचारों से सत्रहवां अध्याय भी बचा न रहना चाहिये था। "कृष्ण महाराज सबके शरीरों में विद्यमान् हैं" यह भाव आपने यहां विना प्रकरण के भी दिखला ही दिया।
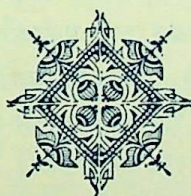
❀ ओम् ❀

गीता में प्रक्षेप ।
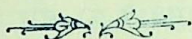
अष्टादश अध्याय ।
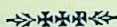
अठारहवें अध्याय में पचास से अठावन तक नौ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकरण में स्वभाव के अनुसार कर्म करने और न करने से जो लाभ और हानियें हैं उनका निरूपण किया जा रहा है। उनचासवें श्लोक में ही यह प्रकरण समाप्त नहीं हो गया। प्रक्षिप्त श्लोकों से आगे उनसठवें और साठवें श्लोक में भी यह ही विषय है। और यहां प्रकरण के बीच में ब्रह्म प्राप्ति का विषय छेड़ दिया गया है। यह प्रसङ्ग प्रकरण का भङ्ग करता है इस लिये प्रक्षिप्त है। इस ब्रह्मप्राप्ति का साधन इन श्लोकों में आगे चल कर ध्यानयोग बतलाया है। और ध्यानयोग के द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का निरूपण छठे अध्याय में विस्तार से आ चुका है। इसलिये पुनरुक्ति दोष, इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने में दुसरा कारण है। फिर आगे चल कर कृष्ण भगवान् ने कहा है। "ब्रह्म प्राप्ति के बाद वह आनन्द में निमग्न हो जाता है उसे कोई शोक नहीं होता, और न कोई आकाङ्क्षा रहती

है। उसके बाद वह मेरा भक्त बन जाता है, भक्ति के द्वारा मुझे जानने का यत्न करता है, और सब कर्म मेरे अर्पण करता हुआ करता है। कितनी बेतुकी बात है! क्या ब्रह्म-प्राप्ति के बाद भी कृष्ण भगवान् की भक्ति की आवश्यकता रह जाती है? इस बेढङ्गे लेख में गीताकार का कोई दोष नहीं यह सब कृष्ण भगवान् के भक्त अथवा शत्रु प्रक्षेपक महोदय की लीला है।

इसी अध्याय में चौसठवें से लेकर ७१ तक आठ श्लोक और प्रक्षिप्त हैं। इकसठवें और बासठवें श्लोक में कृष्ण भगवान् कहते हैं—"हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में है। वह संसार के सब भूत समुदाय को अपनी शक्ति रूपी यन्त्र पर चढ़ा कर घुमा रहा है। पूर्ण श्रद्धा से उसी की शरण में जाओ, उसी की कृपा से उत्कृष्ट शान्ति रूप परम धाम को प्राप्त करोगे।"

अन्त में यह उपदेश कर त्रेसठवें श्लोक में विज्ञान के प्रकरण को समाप्त कर दिया है। समाप्ति का श्लोक पढ़िये—

इति ते ज्ञान माख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८॥६३॥

भाव—यह गूढ़-से-गूढ़ ज्ञान मैंने तुम्हें बतला दिया। इसे विचार कर तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥६३॥

श्लोक का पूर्वार्ध ज्ञान के प्रकरण की समाप्ति का सूचक है। और उत्तरार्ध से यह प्रतीत होता है कि अर्जुन को

अब और कुछ बतलाना शेष नहीं रहा, उपदेश समाप्त हो गया। परन्तु हमारे प्रक्षेपक महोदय का उपदेश अभी समाप्त नहीं हुआ। आप लिखते हैं—

सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥१८॥६४॥

(सुनो ! कुछ कहना रह गया था) सबसे गूढ़ मेरा परम वचन फिर सुनो ॥६४॥

वह परम वचन आगे चलकर कृष्ण भगवान् के शब्दों में आपने इस प्रकार सुनाया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८॥६५॥

भाव—मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर। तू मेरा प्यारा है, मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ ऐसा करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा ॥६५॥

ऊपर पैंसठवें श्लोक में कह आये हैं कि परमेश्वर की ही शरण में जाओ वहीं से सब कुछ मिलेगा। और यहां कह रहे हैं कि मेरी ही शरण में आ यहीं से सब कुछ मिलेगा। यह दुरङ्गी क्यों ? यदि कहें कि कृष्ण भगवान् भी परमेश्वर ही हैं इसलिये दोनों जगह एक ही बात है दुरङ्गी नहीं। ठीक है। परन्तु यदि आपका ही कथन मान लिया जावे तो पुनरुक्ति हो जाती है। जिस बात को एक बार कह दिया फिर उसी को दूसरी बार कहना व्यर्थ है। आशा

है अब पाठक भली भांति समझ गये होंगे कि ये श्लोक भी गीताकार के नहीं प्रक्षेपक महोदय के ही हैं।

इसी अध्याय में छियत्तरवां और सतत्तरवां श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं। श्लोक ये हैं—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवाद मिम मद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥१८॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥१८॥७७॥

भाव—हे राजन् इस कृष्ण और अर्जुन के संवाद को याद करके मैं बार-बार प्रसन्न होता हूँ ॥७६॥ और हरि के उस रूप को याद कर करके मुझे बार-बार आश्चर्य होता है और प्रसन्नता होती है ॥७७॥

छियत्तरवें श्लोक में जो विषय कहा गया है वह चौहत्तरवें श्लोक में आ गया है। अतः उसके फिर दुहराने की आवश्यकता न थी। देखिये—

सञ्जय कहता है—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवाद मिममश्रौष मद्भुतं रोम हर्षणम् ॥१८॥७४॥

भाव—मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन के आश्चर्य से भरे हुए और रोमाञ्च को खड़ा करने वाले इस संवाद को सुना ॥७४॥

रोमाञ्च खड़े होने का भाव प्रेम और हर्ष को प्रकट

करने के लिये है। इस प्रकार इस संवाद के विषय में प्रसन्नता और आश्चर्य दोनों पहिले ही प्रकट कर दिये गये थे, फिर दूसरी बार इनका प्रकट करना पुनरुक्ति ही है।

सतत्तरवें श्लोक में कृष्ण महाराज के विराट् रूप का स्मरण कराया गया है। और सम्भवतः इस श्लोक का प्रसङ्ग छेड़ने के लिये ही प्रक्षेपक महोदय ने छियत्तरवें श्लोक की रचना की हो। आपको भय था कि कहीं उस प्रकरण को कोई प्रक्षिप्त न कह दे। इस लिये आपने उसे फिर दृढ़ कर देना उचित समझा। अस्तु—

यदि ये दोनों श्लोक बीच में न हों तो भी पूर्व पर की सङ्गति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इनके निकाल देने से पचहत्तरवें और अठत्तरवें श्लोक का शाब्दिक और आर्थिक सम्बन्ध और भी सुन्दर प्रतीत होता है। पचहत्तरवें श्लोक में सञ्जय ने कहा है कि "यह योग मैंने योगेश्वर कृष्ण से सुना है।" और अठत्तरवें श्लोक में योगेश्वर कृष्ण की ही सत्ता को विजय का साधन कहा है।
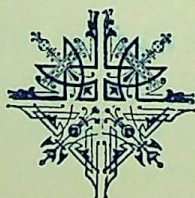
गीता का विषय-विवेचन,
भाष्य के विशेष चिह्न,
गीता-भाष्य ।

सार-संगति सहित

सूचना—गीता-भाष्य में श्रीभगवान उवाच के बजाय सर्वत्र श्रीभगवानुवाच ऐसा पाठ बना लें।

* ओम् *

गीता का विषय-विवेचन ।
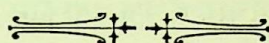
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे च्छतꣳसमाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुर्वेद अ० ४० । मं० २ ॥

यजुर्वेद का यह मन्त्र कर्मयोग का प्रतिपादन करता है । सम्पूर्ण गीता इसी मन्त्र का भाष्य प्रतीत होती है । एक मन्त्र का, इतना विस्तृत, ऐसा भावपूर्ण और स्वारसिक अनुवाद सारे साहित्य में कहीं देखने को नहीं मिला । इस मन्त्र का भाव है—'कर्म करते हुए ही संसार में जीने की इच्छा करो । यह गति तुम्हें विपरीत मार्ग की ओर ले जाने वाली न होगी, और इस प्रकार का कर्म बन्धन का कारण न होगा ।'

"कर्म बन्धन का कारण न होगा" यह अन्त का वाक्य पहिले विधान किये कर्म में कुछ विशेषता की सूचना देता है । प्रत्येक कर्म से पुण्य या पाप की उत्पत्ति अवश्य होती है । और वे पुण्य या पाप ही भले या बुरे जन्म का कारण बनते हैं । और जन्म ही बन्धन है । फिर यह कैसे कहा

गया कि कर्म-बन्धन का कारण नहीं होते। इसलिये यह ठीक ही है कि जिन कर्मों को जीवनभर करते रहने का वेद इस मन्त्र में उपदेश दे रहा है उन कर्मों में कुछ विशेषता है।

थोड़ी-सी गहराई में ज़ाने से यह बात अनायास समझ में आजाती है कि यहां पर यह निष्काम कर्म का विधान है। यह निश्चित विचार है कि निष्काम कर्म बन्धन का कारण नहीं होते।

चलते-चलते पैर तिनके को छू गया। बिना इच्छा के ही वायु के प्रभाव से हाथ, पैर या शिर अपने आप हिलता रहा। ये और इस प्रकार के अन्य कितने ही कर्म, जिनके आरम्भ में इच्छा शक्ति का कोई हाथ नहीं, मनुष्य से बहुधा होते रहते हैं। परन्तु इनका कोई फल भी होगा, इसकी कोई सम्भावना नहीं। यदि ऐसा होता हो तो वायु के प्रबल वेग से गिरे हुए, मेरे वृक्ष के नीचे दब कर मरे हुए मनुष्य का हत्यारा मुझे ठहराया जाना चाहिये, क्योंकि वह वृक्ष मेरा था। परन्तु मेरा होते हुए भी वह वृक्ष मेरी इच्छा से नहीं गिरा, इसलिये उस मनुष्य के बध का अपराधी मुझे नहीं ठहराया जाता।

पाप या पुण्य एक प्रकार के, अन्तःकरण पर पड़ने वाले संस्कार हैं। और वे पड़ते हैं, भावना के आधार पर। मनुष्य जिस प्रकार की कामना से किसी कर्म को करता है वैसे ही संस्कार उसके अन्तःकरण पर पड़ जाते हैं। परन्तु जिन कर्मों के आरम्भ में बुरी या भली कोई भी भावना

काम नहीं कर रही, और जो उदासीन दृष्टि से कर्तव्य समझ कर ही किये जा रहे हैं, उनका फल होगा भी तो क्या? और मिलेगा भी तो किस आधार पर? यही कारण है कि निष्काम कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। फलतः इस वेद मन्त्र के पहिले पाद में निष्काम कर्म का ही विधान है। और यह ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।

गीता में और जो कुछ भी लिखा गया है वह सब इसी मुख्य विषय की पुष्टि के लिये लिखा गया है। इसलिये सम्पूर्ण गीता इसी एक वेद-मन्त्र का भाष्य है।

यह प्रश्न किया जा सकता है, कि क्या कोई कर्म ऐसा भी होगा, जिसके आरम्भ में कोई कामना ही न होगी? मनुष्य जिस कर्म को भी करना आरम्भ करता है उसके लिये मन में किसी कामना को रख ही लेता है।

यह ठीक है, कर्म आरम्भ करने से पहिले मनुष्य के सामने यह प्रश्न उपस्थित अवश्य होता है, कि मैं इस कर्म को क्यों करूँ? उसे इस प्रश्न के दो उत्तर मिल सकते हैं। उनमें से एक यह है कि कर्म करने वाला मन में किसी फल की कामना कर ले। और दूसरा यह कि वह उसे कर्तव्य-बुद्धि से करना आरम्भ कर दे।

"भगवान् ने मेरे लिये वर्ण या आश्रम के अनुसार इस कर्म का विधान किया है। इसका क्या फल होगा, यह सोचने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। मैं इसे इसलिये

कर रहा हूँ कि, इसे मुझे करना चाहिये" इसी बुद्धि का नाम कर्तव्य बुद्धि है।

गीता इस प्रश्न के इन दोनों उत्तरों में से दूसरे उत्तर को ठीक मानती है। परन्तु दूसरा उत्तर है कठिन। इस उत्तर को देने की योग्यता सम्पादन करने के लिये गीता में कितने ही उपाय बतलाये गये हैं। और ये ही विषय गीता के गौण विषय हैं। सङ्ग्राम के आरम्भ में अर्जुन के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि मैं इस सङ्ग्राम को क्यों करूँ? अर्जुन के उसी भाव का चित्रण करने के लिये व्यास जी ने गीता का प्रथम अध्याय

अर्जुन विषाद

लिखा। अर्जुन का वर्ण क्षत्रिय था। और उस वर्ण के अनुसार उसका कर्तव्यकर्म था संग्राम। इस संग्राम के फल की ओर अर्जुन ने ध्यान दिया, तो वह उसे बड़ा भयङ्कर प्रतीत हुआ। अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या उसे खटकने लगी। संग्राम से राज्य लक्ष्मी का लाभ तुच्छ दिखाई देने लगा। महाराज ने देखा कि तमोगुण का जादू चल गया है। अर्जुन के हृदय पर मोह का आवरण आ चुका है। क्षात्र-धर्म उसे भूल गया है। अर्जुन के इस आवरण को हटाने के लिये महाराज ने उसे दूसरा अध्याय

साङ्ख्ययोग

सुनाया। नित्य-अनित्य, आत्मा-अनात्मा और क्षर-अक्षर की विवेक ज्ञान के द्वारा गणना करने का नाम साङ्ख्य है।

इस विवेचन के द्वारा योगिराज ने आत्मा को अमर और शरीर को अवश्य नाश होने वाला सिद्ध कर, अर्जुन के मोह और भ्रान्ति को दूर करने का यत्न किया। इसके बाद महाराज ने अर्जुन की, कर्मफल पर दृष्टि और उसके सोचे हुए कर्मफल के त्याग, दोनों ही की समालोचना करते हुए उसे तीसरे अध्याय में

कर्मयोग

निष्काम-कर्म के अनुष्ठान का उपदेश दिया। उन्होंने कहा, अर्जुन! कर्म को कर्तव्य-बुद्धि से करो, फल की कामना का सर्वथा बहिष्कार कर दो। फल का सम्बन्ध टूट जाने पर कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। जब तुम इस संग्राम से यह इच्छा ही न करोगे कि मुझे राज्य-लक्ष्मी मिले। किसी विशेष व्यक्ति का मारना भी तुम्हारा लक्ष्य न होगा, इस संग्राम को केवल कर्तव्य बुद्धि से करोगे। इसलिये कि क्षत्रिय के लिये, धर्मानुकूल संग्राम का न करना पाप है। तब फिर बताओ तुम पाप के भागी क्यों बन जाओगे?

यद्यपि कर्म से कामना का सम्बन्ध तोड़ देना कठिन बात है। परन्तु यह कठिन अवश्य है असम्भव नहीं। परन्तु अनेक फलों के झमेले से निकाल कर बुद्धि को यदि स्थिर कर लिया जावे, उसमें सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए समान रहने की शक्ति पैदा कर दी जावे, तो बिना कामना के ही कर्तव्य समझ कर कर्म करना कोई कठिन बात नहीं। इस तरह का आचरण करने वाले

मनुष्य की कैसी अवस्था हो जाती है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये महाराज ने चौथे अध्याय में

स्थित प्रज्ञ का लक्षण

स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का चिह्न भी बतला दिया। आगे चल कर पांचवें अध्याय में

कर्मसंन्यास की अशक्यता

का निर्देश किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्मों को सर्वथा छोड़ देना है ही असम्भव। शारीरिक कर्म बल-पूर्वक छोड़ भी दिये तो मानसिक कर्म होते रहते हैं। यहां यह शङ्का हो सकती है कि यद्यपि कर्मों का त्याग असम्भव है, परन्तु फल की कामना का त्याग भी तो बड़ा कठिन है। सब ही स्थिर बुद्धि नहीं हो सकते। इस प्रश्न में कुछ बल समझ कर महाराज ने छठे अध्याय में

यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता

का प्रसङ्ग छेड़ा। कहा अर्जुन? यदि फल-कामना का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता, तो यज्ञ के लिये (लोकहित की कामना से) कर्म करो। यज्ञ के लिये किया हुआ कर्म भी बन्धन का कारण नहीं होता। कदाचित् यह शङ्का हो कि अर्जुन के संग्राम करने में लोकहित क्या था? अन्याय और अत्याचार का दमन लोकहित ही है। और वह ही इस संग्राम का महात्मा कृष्ण के हृदय में मुख्य उद्देश्य था। यज्ञ आदि कर्म भी सम्भवतः अज्ञानियों के लिये ही विधान

किये गये हों। फिर यदि अर्जुन ज्ञान मार्ग का ग्रहण कर ले तो उसे कर्म की क्या आवश्यकता रह जावेगी ? इसी प्रश्न का निर्णय करने के लिये महाराज ने सातवें अध्याय में

ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता

बतलाई। कर्म करने से ज्ञानी को तो पाप लगता नहीं। क्योंकि वह ज्ञानी होने के कारण, किसी कर्म के फल की कामना करेगा ही नहीं। और कामना के विना पाप-पुण्य का भागी नहीं बन सकता। और यदि वह कर्म छोड़ दे, तो उसके दृष्टान्त से अज्ञानी लोग भी कर्म छोड़ देंगे, और यह उनकी क्रिया उनके लिये बड़ी घातक सिद्ध होगी, इस लिये ज्ञानी को भी कर्म करना ही चाहिये। आप लोगों के लिये ज्ञानी को आदर्श बनने की आवश्यकता बतलाते हैं। भला इसकी आवश्यकता ही क्या है ? लोग सब जानते ही हैं कि यह धर्म है और यह अधर्म। फिर वे जानते हुए भी पाप कर्म में प्रवृत्त होते क्यों हैं ? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये महाराज ने आठवें अध्याय में

प्रवृत्ति को प्रधान कारण

बतलाया। कहा, अर्जुन ? इन वेचारों का दोष नहीं। इनके हृदयों में रजोगुण की मात्रा अधिक है। और रजोगुण काम और क्रोध का पिता है। और काम तथा क्रोध पाप कर्म की तरफ़ मनुष्य को वलपूर्वक खींच कर ले जाते हैं। तब फिर क्या कर्म कभी छूट ही नहीं सकेगा ? इसके उत्तर में महाराज ने नवें अध्याय में

कर्मसंन्यास का साधन कर्म बताया

कर्म का त्याग तो यह ही है कि वे अपना काम न कर सकें, मनुष्य को बन्धन में न डाल सकें। अर्जुन ? यह कार्य भी कर्मयोग से ही सिद्ध हो जावेगा। फल की कामना को छोड़ कर किया हुआ कर्म नपुंसक बन जाता है, फल देने के योग्य रहता ही नहीं। जब वह काम ही न कर सका तो उसका संन्यास सुतरां हो गया। पहिले महाराज यज्ञ के लिये और ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता बतला चुके हैं। परन्तु वे यज्ञ और ज्ञान क्या पदार्थ हैं, कितने प्रकार के हैं, और उनका क्या स्वरूप है, इसका स्पष्टीकरण अभी तक नहीं किया गया था। इसलिये दशवें अध्याय में

यज्ञ और ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता

का वर्णन किया गया। द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ और ज्ञानयज्ञ, इन सब यज्ञों का व्याख्यान करते हुए इस अध्याय में ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ कहा है। यहां संशय को दूर कर किसी निर्णय पर पहुँचने का नाम ज्ञान है। अर्जुन संशय में पड़ा हुआ था। इसलिये उसे किसी निर्णय पर पहुँचाने के लिये महाराज ने उपदेश किया है।

यदि ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है तो फिर ज्ञान से ही क्यों न काम लिया जावे। कर्म की क्या आवश्यकता है। यह तो दूसरे शब्दों में कर्म-संन्यास का ही उपदेश हो गया। आप का उपदेश कुछ मिला-जुला सा है। कृपया निश्चय करके

बतलाइये कि कर्मयोग और कर्मसंन्यास इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये महाराज ने ग्यारहवें अध्याय में

कर्मसंन्यास से कर्मयोग की श्रेष्ठता

का वर्णन किया। यद्यपि संन्यास और कर्म दोनों ही अच्छे हैं। परन्तु अनुष्ठान की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। फल की कामना छोड़कर कर्म किया जा सकता है, परन्तु कर्म का सर्वथा छोड़ना कठिन है। कर्म का त्याग यदि करना भी हो तो पहिले मन से सब कामनाओं का त्याग करना पड़ेगा। नहीं तो कर्म फिर भी मन से होते रहेंगे। और यदि कामनाओं का त्याग करना पड़ा तो पहिले कर्मयोग का आरम्भ अपने आप ही हो गया। यह विधि कर्म को फल देने योग्य छोड़ेगी ही नहीं, इसलिये अब कर्मसंन्यास की आवश्यकता ही न पड़ेगी।

यद्यपि यह ठीक है, परन्तु फल-कामना का त्याग भी तो टेढ़ी खीर है। इसके उत्तर में महाराज ने बारहवें अध्याय में

साम्यबुद्धि और उसके साधन ध्यानयोग

का वर्णन किया। जो मनुष्य सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, सोना-मिट्टी और लाभ-हानि इन सबको एक दृष्टि से देखता है उसकी बुद्धि सम है। और जिसके अन्तःकरण में इस साम्यबुद्धि का जन्म हो गया, भला फिर वह कामना करेगा किस

लिये ? इस साम्यबुद्धि को भी मनुष्य बिना कठिनाई के प्राप्त कर सकता है, यदि वह ध्यान योग का अनुष्ठान करे।

ध्यानयोग ऐसी क्रिया है जिससे "एक पन्थ दो काज" सिद्ध होते हैं। यह साम्यबुद्धि को तो उत्पन्न कर ही देता है, परन्तु जिसकी प्राप्ति के बिना सब कर्म निःसार हैं, उस जगन्नियन्ता प्रकाश के पुञ्ज भगवान् के भी यह दर्शन करा देता है। प्रसङ्ग से महाराज ने ईश्वर की प्राप्ति के दूसरे साधन

भक्तियोग

का तेरहवें अध्याय में वर्णन किया। भक्तियोग भी जहां ईश्वर की प्राप्ति का साधन है, उसके साथ ही चित्त में एकाग्रता को उत्पन्न करता हुआ, साम्यबुद्धि की उत्पत्ति में भी कारण है।

ध्यानयोग, भक्ति और साम्यबुद्धि ये सब-के-सब ही यम नियम के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। इस लिये चौदहवें अध्याय में महाराज ने—

ज्ञानयोग

का निरूपण किया है। अहिंसा, शौच आदि, सदाचार के जिन नियमों को, योगदर्शन में यम नियम और मनु ने धर्म कहा है, वैसे ही कुछ अङ्गों को यहां ज्ञान कहा है। वास्तव में धर्म के ये अङ्ग, अन्तः करण में, ध्यानयोग तथा साम्य-बुद्धि की योग्यता उत्पन्न कर, मनुष्य को कर्मयोग का सच्चा अधिकारी बना सकते हैं।

सत्व, रज और तम ये तीनों गुण, मनुष्य के जीवन-भर के सारे कार्य-क्रम का सञ्चालन करने वाले हैं। अन्तःकरण में इन तीनों में से जिस गुण की प्रधानता होगी, उस गुण के प्रभाव से मनुष्य वैसे ही कार्य कर सकेगा उसके विपरीत नहीं। गुणों की इस विशेषता को समझाने के लिये ही महाराज ने पन्द्रहवें अध्याय में

गुण-कार्य-विवेक

का वर्णन किया है। गुण-कार्य-विवेक 'विज्ञानयोग' का ही एक अङ्ग है, इस लिये इस अध्याय से विज्ञानयोग का आरम्भ हो गया है। इस अध्याय में गुणों और उनके कार्यों का निर्देश करते हुए, गुणों से ऊँचा उठने का उपदेश किया गया है।

अर्जुन गुणों से ऊँचा उठकर गुणातीत होने का अधिकारी न था। उसके हृदय में सत्व गुण का उदय हो चुका था, और इस लिये वह दैवी सम्पत्ति का अधिकारी था। और इसीलिये महाराज ने उसे उसकी स्थिति समझाने के लिये सोलहवें अध्याय में

दैव-आसुर भाव-विवेक

का व्याख्यान किया है। दैवी और आसुरी सम्पत्ति का इस अध्याय में सुन्दर वर्णन है। अर्जुन ने प्रश्न किया कि महाराज! जो लोग शास्त्रविधि (कर्मयोग की विधि) के विना ही यज्ञ करते हैं उनकी, सत्वगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी कौनसी निष्ठा होती है। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने सत्रहवें अध्याय में

गुणनिष्ठा

का व्याख्यान किया। किस गुण में निष्ठा होने से मनुष्य की क्या अवस्था होती है और वह कैसे कर्म करता है, इस अध्याय में ऐसे ही विषयों का वर्णन है।

इस व्याख्यान को सुन कर अर्जुन ने, कर्मयोग और कर्मसंन्यास का भी गुणों की दृष्टि से व्याख्यान सुनना चाहा, इस लिये अठारहवें अध्याय में महाराज ने गुणों की दृष्टि से संन्यास और योग का व्याख्यान करने के लिये; फिर

गुणनिष्ठा

का ही प्रकारान्तर से निरूपण किया है। अन्त में अर्जुन की समझ में आ गया कि मेरे अन्दर तमोगुण तो है नहीं, रजोगुण और सत्वगुण दोनों विद्यमान हैं, महाराज के उपदेश से तमोगुण से उत्पन्न हुए मोह का पर्दा हट गया। और मेरा क्षात्रधर्म रजोगुण की सहायता से मुझे अब धर्म-युद्ध करने के लिये प्रेरणा करने लग गया है। वह यह भी समझ गया कि सत्त्वगुण की सहायता से मैं इस युद्ध को निष्काम भाव से कर सकता हूँ, और इससे होने वाले पाप या पुण्य से छुटकारा पा सकता हूँ। यह समझ कर अर्जुन ने महाराज को रणक्षेत्र में कूदने की अनुमति दे दी, और गीता का उपदेश समाप्त हुआ।
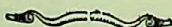
✻ ओम् ✻

भाष्य के विशेष चिह्न

गीता के श्लोकों का भाषा में अर्थ करते हुए यह ध्यान रक्खा गया है कि शब्दों के अर्थ और भावार्थ दोनों इकट्ठे ही आ जावें। पृथक्-पृथक् लिखने से पुस्तक और भी बड़ी हो जाती। कोष्ठ में लिखे हुए शब्दों को छोड़ कर, पाठक यदि केवल भाषा पढ़ेंगे तो भाषा प्रायः महावरे में होगी। शब्द का अर्थ साथ-साथ दिखलाने के कारण महावरे में कहीं-कहीं त्रुटि भी आ गई है। अर्थ अन्वय के क्रम से दिखलाए गए हैं। समस्त पदों की भी सन्धियों का विभाग कोष्ठ में इस लिये कर दिया गया है कि शब्दों के अर्थ पाठकों की समझ में, शब्द का पूरा ज्ञान हो कर ठीक-ठीक आ सकें। एक शब्द को दूसरे शब्द से पृथक् करने के लिये कोष्ठ में लिखे संस्कृत के शब्दों के बीच में भी और उनके भाषा में किये गये अर्थों के बीच में भी (—) यह चिह्न दिया गया है। किसी भाषा के शब्द का भाव जहां दूसरे शब्द से समझाया गया है, वहां उन दोनों शब्दों के बीच में (=) यह चिह्न दिया गया है। भाषा के महावरे को पूरा करने के लिये जो शब्द या वाक्य कहीं अपनी तरफ़ से लिखने पड़े

हैं, उन शब्दों या वाक्यों के दोनों तरफ (" ") यह चिह्न दिया गया है। महावरे को ठीक करने के लिये किसी समास के दो या तीन पदों में से जहां किसी पिछले पद का अर्थ पहिले और पहिले का पीछे से किया गया है वहां संस्कृत के शब्दों के साथ भी और भाषा के शब्दों के साथ भी ३-२-१ अङ्क इस लिये लगा दिये गये हैं कि पाठक यह समझ सकें कि यह तीसरे दूसरे या पहिले पद का अर्थ है। किसी विषय को समझाने के लिये जहां कहीं अपनी तरफ़ से विशेष लिखना पड़ा है वहां भी ( ) यह चिह्न ही दिया गया है।

प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में उस अध्याय के सार और सङ्गति को भी लिख दिया गया है। पाठक उसे पढ़ कर फिर अध्याय का भाषा अर्थ पढ़ें।
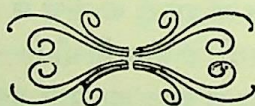
* ओम् *

सार और संगति ।

प्रथम अध्याय ।

अर्जुन विषाद ।

महर्षि व्यास-प्रणीत गीता का यह प्रथम अध्याय, एक प्रकार से, अर्जुन को किये गये कर्मयोग के उपदेश की भूमिका है। अर्जुन की भुजाएँ, वर्षों से इस संग्राम के लिये फड़क रही थीं। इस संग्राम में प्रतिबन्धक, वनवास का एक-एक दिन उसे वर्ष के समान लम्बा दिखाई दे रहा था। कौरवों से किया हुआ अपना घोर अपमान उसे एक क्षण के लिये भी भूलता न था। योगिराज कृष्ण को बड़े यत्नों से उसने ही संग्राम के लिये तैयार किया, और अपना रथवान् बनाया। परन्तु अब पासा उलट गया। सामने खड़े सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन

के हृदय के किसी कोने में छिपा तमोगुण, मोह का रूप धारण कर सामने आ खड़ा हुआ, और अपनी एक ही दृष्टि से इसने अर्जुन को धनुष बाण दूर रख देने के लिये विवश कर दिया। बस मोह के ऐसे ही सफल जादू का चित्र व्यास जी ने इस अध्याय में खींचा है।

मोह ने अर्जुन की क्षात्र भावना को, अपने प्रबल आक्रमण से अज्ञान के पर्दे में छिपा दिया। और इसी आवेश में वह ही अर्जुन उसी महात्मा कृष्ण के सामने, नकार का बेसुरा राग अलापने लगा। अर्जुन ने कहा—महाराज! क्या इस तुच्छ से राज्य और भोगैश्वर्य के लिये, मैं अपने गुरुओं, बन्धुओं और सम्बन्धियों के रक्त से हाथ रगूँ! क्या इनकी बची हुई कुल-देवियों के शील के पतन और वर्णसङ्करता के भाव को मैं अपने हाथों से जन्म दूँ!! और क्या इसी तुच्छ से राज्य के लिये मैं अपने वंश का और उसके साथ ही अपनी सभ्यता का सर्वनाश कर दूँ!!! नहीं महाराज मुझसे यह न होगा। इसकी अपेक्षा तो यदि ये लोग मुझ निहत्थे का ही, इसी रण-भूमि में शस्त्रों से अन्त कर दें तो मेरा परम कल्याण हो। बस इतना ही निवेदन कर मोह की विजय का डङ्का

बजाता हुआ, अर्जुन धनुष-बाण रखकर रण-भूमि में बैठ गया।

प्राचीन काल के वीर क्षत्रिय, धर्म के अनुकूल संग्राम में प्राणों की भेंट चढ़ाना अपना कर्तव्य समझते थे। महाभारत-काल तक भी, क्षत्रियों के हृदय के साथ इस अनूठे भाव का गम्भीर सम्बन्ध रहा है। इसी प्रकार के इस संग्राम में प्रथम दिखलाया गया अर्जुन का विषाद, योगिराज कृष्ण को अनुचित प्रतीत हुआ। और इसीलिये उन्होंने इस विषाद को अनार्य पुरुषों का विचार कहने में कोई सङ्कोच न किया। और कहा, अर्जुन! नपुंसक न बनो, हृदय की दुर्बलता को छोड़ो, और खड़े हो जाओ। महाराज के, उत्तेजित करने वाले ये शब्द अर्जुन ने सुन तो लिये, परन्तु ये कठोर शब्द भी उसके हृदय में आवेश पैदा करने के लिये सफल न हुए। उसने फिर अपने उन्हीं पहिले विचारों को दूसरे शब्दों में दुहरा दिया, और यहां तक कह दिया कि, महाराज! मैं तो इस युद्ध से भीख मांगकर खा लेना अच्छा समझता हूँ। हां, उसने महात्मा कृष्ण द्वारा, अपने ऊपर लगाये दोष को स्वीकार अवश्य कर लिया; और कहा कि निश्चय

ही मेरा क्षत्रिय स्वभाव मोह के आक्रमण से नष्ट हो गया है। मुझे अब कुछ नहीं सूझता। इस भयङ्कर, वंश के रक्तपात के सामने, मुझे तो अब इन्द्र का राज्य भी तृण के समान दीखता है। आप गुरु हैं, उचित उपदेश करें, मेरा तो उत्तर यह ही है कि न लड़ूँगा।

❀ ओम् ❀
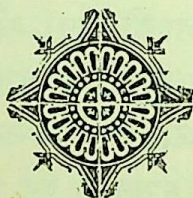
गीता-भाष्य

प्रथम अध्याय

अर्जुन विषाद

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत सञ्जय ।१।

धृतराष्ट्र ने कहा ।

हे सञ्जय! (धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे) पुण्यभूमि-कुरुक्षेत्र में, (समवेताः-युयुत्सवः) इकट्ठे हुए-युद्ध की इच्छा वाले (मामकाः-च-एव-पाण्डवाः) मेरे-और-पाण्डु के पुत्रों 'ने' (किम्-अकुर्वत) क्या-किया । १ ।

सञ्जय उवाच ।

दृष्ट्वातु पाण्डवानीकं, व्यूढंदुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुप सङ्गम्य, राजा वचन मब्रवीत् ।२।

सञ्जय ने कहा ।

(राजा) दुर्योधन (तदा-पाण्डव-अनीकम्) उस समय-पाण्डवों की-सेना को (दृष्ट्वा) देखकर (आचार्यम्-उप-सङ्गम्य) आचार्य के-समीप-आकर (वचनम्-अब्रवीत्) वचन-कहने लगा । २ ।

पश्यैतांपाण्डु पुत्राणां, आचार्य महतींचमूम् ।
व्यूढांद्रुपद पुत्रेण, तव शिष्येण धीमता ।३।

हे आचार्य (धीमता) बुद्धिमान् (तव शिष्येण) तेरे शिष्य (द्रुपद पुत्रेण) द्रुपद के पुत्र = धृष्टद्युम्न से (व्यूढाम्) नियम से खड़ी की हुई (पाण्डुपुत्राणाम्) पाण्डु के पुत्रों की (एताम्-महतीम्-चमूम्) इस-बड़ी-सेना को (पश्य) देख । ३ ।

अत्र शूरा महेष्वासा, भीमार्जुन समायुधि ।
युयुधानो विराटश्च, द्रुपदश्च महारथः ।४।

(अत्र-युधि) इस-सङ्ग्राम में (भीम-अर्जुन-समाः) भीम 'और' अर्जुन-जैसे (महा-इष्वासाः) बड़े-धनुषधारी (युयुधानः-च-विराटः) युयुधान-और-विराट (च-महारथः-द्रुपदः) और-महारथी-द्रुपद ।४।

धृष्टकेतुश्चेकितानः, काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च, शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।५।

(धृष्टकेतुः-चेकितानः) धृष्टकेतु, चेकितान, (वीर्यवान्-काशिराजः) शक्तिशाली-काशी का राजा, (पुरुजित्-कुन्ति भोजः) पुरुजित्-कुन्ति भोज, (च-नर पुङ्गवः-शैब्यः) और-नरश्रेष्ठ-शिविदेश का राजा ।५।

युधामन्युश्च विक्रान्त, उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च, सर्व एव महारथाः ।६।

(विक्रान्तः) पराक्रमी (युधामन्युः) युधामन्यु, वीर्य-वान्) शक्तिशाली (उत्तमौजाः) उत्तमौजा, (सौभद्रः) सुभद्रा का पुत्र = अभिमन्यु (च द्रौपदेयाः) और-द्रौपदी के पुत्र 'ये' (सर्वे-एव) सब ही (महारथाः) महारथी हैं ।६।

अस्माकं तु विशिष्टा ये, तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य, संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।७।

(द्विजोत्तम) हे द्विजश्रेष्ठ ! (ये-तु-अस्माकम्-विशिष्टाः) जो-कि-हमारे-विशेष पुरुष हैं, (तान्-निबोध) उनको-'भी' जानो = सुनो । (तान्-ते-संज्ञार्थम्-ब्रवीमि) उन्हें-आपके-परिचय के लिये-कहता हूँ ।७।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च, कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च, सौमदत्तिस्तथैव च ।८।

(भगवान्-च-भीष्मः) आप-और-भीष्म (कर्णः-च-समितिं-जयः-कृपः) कर्ण-और-रण को-जीतने वाला कृपाचार्य (अश्वत्थामा-च-विकर्णः) अश्वत्थामा-और-विकर्ण = धृतराष्ट्र का एक पुत्र, (च-तथा-एव) और-वैसे-ही (सोमदत्तिः) सोमदत्त का पुत्र = भूरिश्रवा ।८।

अन्ये च बहवः शूरा, मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः, सर्वे युद्धविशारदाः ।९।

(मत्-अर्थे) मेरे-लिये (त्यक्त-जीविताः) २ प्राण १ त्यागने वाले (अन्य-च-बहवः-शूराः) और-भी बहुत से-वीर 'हैं, जो' (सर्वे-युद्ध-विशारदाः) सब-युद्ध में-निपुण हैं ।९।

अपर्याप्तं तदस्माकं, बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।१०।

(तत्-अस्माकम्-भीष्म-अभि रक्षितम्-बलम्) वह-हमारी-भीष्म से-रक्षित-सेना (अपर्याप्तम्) असंख्य है । 'और' (एतेषाम्-भीम-अभिरक्षितम्-बलम्-तु) इनकी भीम

से-रक्षित-सेना तो (पर्याप्तम्) परिमित है = संख्या में थोड़ी है ।१०।

अयनेषु च सर्वेषु, यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु, भवन्तः सर्व एव हि ।११।

(हि) इस लिये (सर्वेषु-अयनेषु) 'सेना के' सब-प्रवेश द्वारों में (यथा-भागम्) २ बांट के १ अनुसार (अवस्थिताः) खड़े हुए (भवन्तः-सर्वे-एव) आप-सब ही (भीष्मम्-एव-अभि-रक्षन्तु) भीष्म की-ही-सब ओर से-रक्षा करें ।११।

तस्य संजनयन्हर्षं, कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः, शंखं दध्मौप्रतापवान् ।१२।

(प्रतापवान्) प्रतापी (कुरुवृद्धः-पितामहः) कुरुओं के बूढे-पितामह = भीष्म 'ने' (उच्चैः-सिंहनादम्-विनद्य) ऊँचे-सिंह-जैसे-शब्द की-गर्जना कर (शंखं-दध्मौ) शङ्ख-बजाया ।१२।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च, पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त, स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।१३।

(ततः) उसके बाद (शङ्खाः-च-भेर्यः) शङ्ख-और-नक्कारे (पणव-आनक-च-गोमुखाः) ढोल-डमरू-और-नरसिंहे (सहसा-एव-अभि-अहन्यन्त) एकदम-ही-दोनों ओर बजने लगे, (स-शब्दः-तुमुलः-अभवत्) वह-शब्द-बहुत ऊँचा-हुआ।१३।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव, दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।१४।

(ततः) उसके बाद (श्वेतैः-हयैः-युक्ते-महति-स्यन्दने) सफ़ेद-घोड़ों से-युक्त-बड़े-रथ पर (स्थितौ-माधवः-च एव-पाण्डवः) खड़े हुए-कृष्ण-और-पाण्डव (दिव्यौ-शङ्खौ-प्रदध्मतुः) दैवी-शंख (वैज्ञानिक रीति से बनाए हुए मारूबाजे) बजाने लगे।१४।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो, देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं, भीमकर्मा वृकोदरः।१५।

(हृषीकेशः) कृष्ण (पाञ्चजन्यम्) पाञ्चजन्य नामक (धनञ्जयः-देवदत्तम्) अर्जुन-देवदत्त नामक 'और' (भीम-कर्मा वृकोदरः) भयङ्कर कर्म वाला-भीमसेन (पौण्ड्रम्-महाशंखम्-दध्मौ) पौण्ड्र नामक-महाशंख को-बजाने लगा।१५।

अनन्तविजयं राजा, कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च, सुघोषमणिपुष्पकौ ।१६।

(कुन्तीपुत्रः-युधिष्ठिरः-राजा) कुन्ती का पुत्र-युधिष्ठिर-राजा (अनन्त-विजयम्) अनन्त विजय नामक, (नकुलः-च-सहदेवः-सुघोष-मणिपुष्पकौ) नकुल-'और'-सहदेव-सुघोष 'और' मणिपुष्पक नाम वाले 'शंखों को बजाने लगे' ।१६।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नोविराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।१७।

(परम-इष्वासः-काश्यः-च) बड़े-धनुष वाला-काशी का राजा-और (महारथः-शिखण्डी) महारथी-शिखण्डी (धृष्टद्युम्नः-च-विराटः) धृष्टद्युम्न-और-विराट (अपराजितः-सात्यकिः) न हारने वाला-सात्यकि ।१७।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च, सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः, शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ।१८

(पृथिवीपते) हे पृथिवी के स्वामी ! (द्रुपदः-च-द्रौपदेयाः) द्रुपद-और-द्रौपदी के पुत्र (च-महाबाहुः)

(अहम्) मैं (योत्स्यमानान्) लड़ने वालों को (अवेक्षे) देखता हूँ (य-एते-अत्र) जो-ये-यहां पर (दुर्बुद्धेः-धार्तराष्ट्रस्य) कुबुद्धि-धृतराष्ट्र के पुत्र का (युद्धे-प्रिय-चिकीर्षवः) युद्ध में प्रिय-करने की इच्छा वाले, (समागताः) आये हैं ।२३।

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो, गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयो मध्ये, स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।२४।

सञ्जय ने कहा ।

(भारत) हे भरत-सन्तान = धृतराष्ट्र ! (हृषीक-ईशः) इन्द्रियों का स्वामी = कृष्ण (गुडाका-ईशेन) निद्रा के विजेता = अर्जुन के (एवम्-उक्तः) इस प्रकार कहने पर (उभयोः-सेनयोः-मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में (रथ-उत्तमम्) श्रेष्ठ-रथ को (स्थापयित्वा) खड़ा करके ।२४।

भीष्मद्रोण प्रमुखतः, सर्वेषाञ्च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्, समवेतान् कुरूनिति ।२५।

(भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः) भीष्म 'और' द्रोण के-

सामने (च सर्वेषाम्-महीक्षिताम्) और-सब-राजाओं के सामने (उवाच) कहने लगा, (पार्थ) हे पृथा-पुत्र ! (एतान्-समवेतान्-कुरून्) इन-इकट्ठे हुए-कुरुओं को (पश्य) देख ।२५।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः, पितृनथ पितामहान्
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्, पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा

श्वशुरान्सुहृदश्चैव, सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्यसकौन्तेयः, सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।

(तत्र) वहां (पार्थः) अर्जुन 'ने' (पितृन्-अथ-पितामहान्) पिताओं-और-दादाओं (आचार्यान्-मातुलान्-भ्रातॄन्-पुत्रान्-पौत्रान्-तथा-सखीन्) आचार्यों-मामाओं-भाइयों-पुत्रों-पोतों तथा साथियों (श्वशुरान्-च-एव-सुहृदः) श्वसुरों-और-मित्रों (उभयोः-अपि-सेनयोः) दोनों-ही-सेनाओं के 'लोगों को' (स्थितान्-अपश्यत्) खड़े हुओं को-देखा। (स-कौन्तेयः) वह-कुन्ती-पुत्र (तान्-सर्वान्-अवस्थितान्-बन्धून्-समीक्ष्य) उन-सब खड़े-हुए-परिवार के लोगों को देख कर ।२६।२७।

कृपया परयाऽऽविष्टो, विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण, युयुत्सुं समुपस्थितम् ।२८।

(परया-कृपया) अत्यन्त-कृपा से (आविष्टः) पूर्ण हुआ (विषीदन्-इदम्-अब्रवीत्) दुःखी होता हुआ-यह कहने लगा ।

अर्जुन बोला ।

हे कृष्ण ! (युयुत्सुम्) युद्ध की इच्छा वाले (इमम्) इस (समुपस्थितम्) आये हुए (स्वजनम्) अपने-बन्धुवर्ग को (दृष्ट्वा) देखकर ।२८।

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ।२९।

(मम-गात्राणि-सीदन्ति) मेरे-अङ्ग-शिथिल हो रहे हैं (च-मुखम्-परिशुष्यति) और-मुंह-सूख रहा है (च-मे-शरीरे) और-मेरे-शरीर में (वेपथुः-च-रोमहर्षः) कम्प-और-रोमाञ्च (जायते) हो रहा है ।२९।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् , त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं, भ्रमतीव च मे मनः ।३०।

(हस्तात्-गाण्डीवम्-स्रंसते) हाथ से-गाण्डीव=धनुष गिर रहा है (च-एव-त्वक्-परिदह्यते) और-त्वचा-जल रही है। (च-अवस्थातुम्-न-शक्नोमि) और-खड़ा होने के लिये-समर्थ नहीं हूँ (च-मे-मनः-भ्रमति-इव) और मेरा-मन-घूम सा रहा है।३०।

निमित्तानि च पश्यामि, विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि, हत्वा स्वजन माहवे।३१।

(च-केशव) और-हे कृष्ण (निमित्तानि-विपरीतानि-पश्यामि) लक्षण=हालात उलटे-देख रहा हूँ। (च-आहवे-स्वजनम्-हत्वा) और-सङ्ग्राम में-अपने-बन्धुओं को-मार कर (श्रेयः-न-अनुपश्यामि) कल्याण नहीं देखता हूँ।३१।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च।
किन्नो राज्येन गोविन्द, किम्भोगैर्जीवितेन वा।३२।

हे कृष्ण! (विजयम्-राज्यम्-च-सुखानि-न-काङ्क्षे) जीत-राज्य-और-सुख-नहीं-चाहता (गोविन्द) हे गौवों के प्राप्त करने वाले=कृष्ण! (नः-राज्येन-भोगैः-वा-

जीवितेन-किम्) हमारे-राज्य से-भोगों से-या-जीवन से-क्या लाभ ।३२।

येषा मर्थे काङ्क्षितन्नो, राज्यम्भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे, प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च॥
आचार्याः पितरः पुत्रा, स्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥

(नः) हमें (येषाम्-अर्थे) जिनके-लिये (राज्यम्-भोगाः-च-सुखानि) राज्य-भोग-और-सुख (काङ्क्षितम्) चाहियें। (ते-इमे) वे-ये (आचार्याः-पितरः-पुत्राः) आचार्य-पिता-पुत्र (च-एव-तथा) और-उसी तरह (पितामहाः) दादा (मातुलाः) मामा (श्वशुराः-पौत्राः-श्यालाः-तथा-सम्बन्धिनः) श्वसुर-पोते-साले-और-सम्बन्धी लोग, (प्राणान्-च-धनानि-त्यक्त्वा) प्राणों-और-सम्पत्तियों को छोड़ कर (युद्धे-अवस्थिताः) सङ्ग्राम में-खड़े हैं ।३३।३४।

एतान्न हन्तु मिच्छामि, घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य, हेतोः किन्नु महीकृते।३५।

(मधु-सूदन) हे-मधुके-मारने वाले! (एतान्-घ्नतः-

अपि) इन्हें-मारते हुओं को-भी (त्रैलोक्य-राज्यस्य-हेतोः-अपि) तीनों लोकों के-राज्य के-लिये भी (न-हन्तुम्-इच्छामि) नहीं-मारना-चाहता, (मही-कृते-नु-किम्) पृथिवी के-लिये-तो-क्या ।३५।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः, का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पाप मेवाश्रयेदस्मान्, हत्वैतानाततायिनः ।३६।

(जनार्दन) हे दुर्जनों को कष्ट देने वाले = कृष्ण ! (धार्तराष्ट्रान्-निहत्य) धृतराष्ट्र के पुत्रों को-मार कर (नः-का-प्रीतिः स्यात्) हमें-क्या-प्रसन्नता-होगी (एतान्-आततायिनः) इन-अपराधियों को (हत्वा) मार कर (अस्मान्-पापम्-एव-आश्रयेत्) हमें-पाप-ही-लगेगा ।३६।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं ,धार्तराष्ट्रान् स्व बान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माधव ।३७।

(तस्मात्-वयम्) इसलिये-हम (स्वबान्धवान्-धार्तराष्ट्रान्) अपने भाइयों-धृतराष्ट्र के पुत्रों को (हन्तुम्) मारने के (अर्हाः) योग्य = अधिकारी (न) नहीं हैं। (माधव) कृष्ण ! (स्वजनम्) अपने बन्धुओं को (हत्वा) मार कर (कथम्-सुखिनः-स्याम) कैसे-सुखी-होंगे ।३७।

यद्यप्येते न पश्यन्ति, लोभोपहत चेतसः ।
कुलक्षय कृतन्दोषं, मित्र द्रोहे च पातकम् ।३८।

(यद्यपि-लोभ-उपहत-चेतसः) चाहे-लोभ से-बिगड़े-चित्त वाले (एते) ये (कुल-क्षय-कृतम्-दोषम्) कुल के-नाश से-होने वाले-अपराध (च) और (मित्र-द्रोहे-पातकम्) मित्र से-द्रोह करने पर-होने वाले-पाप को (न-पश्यन्ति) नहीं-देखते ।३८।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः, पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं, प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।३९।

हे जनार्दन ! (कुल-क्षय-कृतम्-दोषम्-प्रपश्यद्भिः) कुल-नाश से-होने वाली-हानि-देखते हुओं को (अस्माभिः) हमें (अस्मात्-पापात्-निवर्तितुम्) इस-पाप से-बचने का (कथम्-न-ज्ञेयम्) क्यों-नहीं-निश्चय करना चाहिये ।३९।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्न,मधर्मोऽभिभवत्युत ।४०।

(कुलक्षये) कुल के नाश होने पर (सनातनाः-कुल धर्माः-प्रणश्यन्ति) सदा से चले आये-कुल के-धर्म-नष्ट हो जाते हैं । (उत-धर्मे-नष्टे) और-धर्म के-नष्ट होने पर

(कृत्स्नम्-कुलम्-अधर्मः-अभिभवति) सारे-कुल को अधर्म-दबा लेता है ।४०।

अधर्माभिभवात्कृष्ण, प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय, जायते वर्णसंकर ।४१।

हे कृष्ण ! (अधर्म-अभिभवात्) अधर्म से 'कुल के' दबाये जाने पर (कुलस्त्रियः-प्रदुष्यन्ति) कुल-की-स्त्रियें बिगड़ जाती हैं। (वार्ष्णेय) हे वृष्णि-सन्तान ! (स्त्रीषु-दुष्टासु-वर्णसङ्करः-जायते) स्त्रियों के-दूषित हो जाने पर-वर्णसङ्कर-पैदा हो जाता है ।४१।

संकरो नरकायैव, कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां, लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।४२।

(संकर) वर्णसंकर (कुलघ्नानाम्-च-कुलस्य) कुल-का नाश करने वालों के-और-कुल के (नरकाय-एव) महादुःख का साधन-ही है। (हि-एषाम्-पितरः) क्योंकि इनके-वृद्ध लोग। (लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः) २ अन्न का ग्रास ३ जल 'और' ४ 'सेवा का' कर्म, १ लुप्त हो जाने से (पतन्ति) पतित हो जाते हैं = मारे मारे फिरते हैं ।४२।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां, वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः,कुलधर्माश्च शाश्वताः ४३

(कुलघ्नानाम्-एतैः-वर्णसंकर-कारकैः-दोषैः) कुल नाशकों के-इन-वर्णसंकर-पैदा करने वाले-दोषों से (जाति-धर्माः) वर्ण-धर्म (च शाश्वताः-कुल-धर्माः) और सनातन कुल के धर्म (उत्साद्यन्ते) उखाड़ दिये जाते हैं ।४३।

उत्सन्नकुलधर्माणां, मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेनियतं वासो, भवतीत्यनुशुश्रुम ।४४।

हे जनार्दन ! (उत्सन्न-कुल-धर्माणाम्) २ कुल के-३ धर्म- १ छोड़ने वाले (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का (नियतम्-नरके-वासो-भवति) निश्चय-नरक-में = दुःख-दायक योनियों में, निवास-होता है (इति-अनुशुश्रुम) यह सुनते आये हैं ।४४।

अहो बत महत्पापं, कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन, हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।४५।

(अहो) ओह ! (बत) खेद है (वयम्-महत्-पापम्) हम-बड़ा-पाप (कर्तुम्-व्यवसिताः) करने लगे हैं ।

(यत्-राज्य-सुख-लोभेन) जो कि-राज्य के-सुख के-लोभ से (स्वजनम्-हन्तुम्-उद्यताः) अपने आदमियों को-मारने को-तैयार हुए हैं ।४५।

यदि मामप्रतीकार, मशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्यु, स्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।४६।

यदि (शस्त्र-पाणयः) शस्त्र हाथ में लिये (धार्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पुत्र (माम्-अप्रतीकारम्-अशस्त्रम्) मुझे-नबदला लेते हुए-शस्त्र से रहित निहत्थे को (रणे-हन्युः) रण में मार दें (तत्-मे) तो-मेरा (क्षेमतरम्-भवेत्) परम कल्याण हो ।४६।

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये, रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं, शोकसंविग्नमानसः ।४७।

संजय कहने लगा ।

(शोक-संविग्न-मानसः) शोक से-खिन्न-चित्त वाला (अर्जुनः) अर्जुन (एवम्-उक्त्वा) ऐसा-कह कर (सशरम्-चापम्-विसृज्य) बाण सहित-धनुष को-छोड़

कर (रथ-उपस्थे) रथ के ऊपर (उप-आ-विशत्) बैठ गया ।४७।

तं तथा कृपयाविष्ट, मश्रुपूर्णाकुलेक्षणाम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्य, मुवाच मधुसूदनः ।४८।

(तथा-कृपया-आविष्टम्) उस प्रकार-दया से-पूर्ण (अश्रु-पूर्ण-आकुल-ईक्षणाम्) आंसुओं से-भरे-व्याकुल = घबराये हुए-नेत्रों वाले (विषीदन्तम्-तम्) उदास हुए हुए = अर्जुन को (मधु-सूदनः) मधु-नाशक = कृष्ण (इदम्-वाक्यम्-उवाच) यह-वचन-कहने लगे ।४८।

श्रीभगवान उवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं, विषमे समुपास्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।४९।

श्री कृष्ण बोले ।

हे अर्जुन ! (त्वा-विषमे) तेरे पास-'इस' कठिन समय में (इदम्-अनार्य-जुष्टम्) यह-अनार्यों का-प्रिय (अस्वर्ग्यम्) सुख का न देने वाला (अकीर्तिकरम्-कश्मलम्) अपयश का-करने वाला = देने वाला-मोह (कुतः समुपस्थितम्) कहां से आगया ।४९।

क्लैव्यं मास्म गमः, पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।५०।

(पार्थ) हे पृथापुत्र = अर्जुन ! (क्लैव्यम्-मास्मगमः) नपुंसकता को-मत-प्राप्त हो। (एतत्-त्वयि-उपपद्यते-न) यह-तुझमें = तेरे लिये-युक्त-नहीं। (परन्तप) हे शत्रुओं को तपाने वाले (क्षुद्रम्-हृदय-दौर्बल्यम्) तुच्छ-हृदय की दुर्बलता को (त्यक्त्वा-उत्तिष्ठ) छोड़ कर-उठ ।५०।

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये, द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि, पूजार्हावरिसूदन ।५१।

अर्जुन बोले ।

(अरि-सूदन-मधु-सूदन) हे शत्रु-नाशक 'एवम्' मधु नाशक = कृष्ण ! (अहम्-संख्ये) मैं-संग्राम में (पूजा-अर्हौ-भीष्मम्-च-द्रोणम्) पूजा के योग्य-भीष्म-और-द्रोण के साथ (इषुभिः-कथम्-प्रतियोत्स्यामि) बाणों से-कैसे-लड़ूँगा ।५१।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।५२।

(हि-महानुभावान्-गुरून्-अहत्वा) क्योंकि-महाशय गुरुओं को-न-मार कर (इह-लोके-भैक्ष्यम्-अपि-भोक्तुम्-श्रेयः) इस लोक में-भिक्षा का अन्न-भी-खा लेना-अच्छा है। (अर्थ कामान्-गुरून्-हत्वा-तु) धन की कामना वाले-गुरुओं को-मार कर-तो (इह-एव-रुधिर-प्रदिग्धान्-भोगान्-भुञ्जीय) यहां-ही खून से-भरे हुए-भोगों को खावेंगे ।५२।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम,
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।५३।

(यद्वा-जयेम) या-हम जीतें, (यदि-वा-नः-जयेयुः) या हमें-वे-जीतें। 'इनमें से' (कतरत्) कौन सी बात (नः-गरीयः) हमारे लिये-श्रेष्ठ है (एतत्-न-च-विद्मः) इसे 'भी हम' नहीं-जानते। 'यदि कहा जावे कि जीत तो अपनी ही अभीष्ट होनी चाहिये, तो इसके उत्तर में अर्जुन

कहता है, (यान्-हत्वा-न-एव-जिजीविषामः) जिन्हें मार कर-सर्वथा नहीं-जीना चाहते (ते धार्तराष्ट्राः) वे-धृत-राष्ट्र के पुत्र (सम्मुखे-अवस्थिताः) सामने खड़े हैं। तात्पर्य यह कि इनको मार कर अपनी जीत भी हमें प्यारी नहीं है ।५३।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव,
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेय स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।५४।

(कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः) दया के-दोष से-दबे हुए-'क्षात्र' स्वभाव वाला, (धर्म-संमूढ-चेताः) कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में-भ्रान्त-चित्त वाला (त्वा-पृच्छामि) तुमसे-पूछता हूँ। (यत्-श्रेयः-स्यात्) जो-ठीक हो (तत्-मे-निश्चितं-ब्रूहि) वह-मुझे-निर्णय किया हुआ-बतलाओ। (अहं-ते-शिष्यः) मैं-तेरा-शिष्य हूँ, (मां-त्वां-प्रपन्नं-शाधि) मुझे-तेरी = अपनी-शरण आये हुए को-उपदेश करो ।५४।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धम्,
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।५५।

(भूमौ) पृथिवी पर (असपत्नम्-ऋद्धम्-राज्यम्) शत्रुओं से रहित-समृद्ध-राज्य को (च-सुराणाम्-आधिपत्यम्-अपि) और-देवताओं के-प्रभुत्व को भी (अवाप्य) प्राप्त करके (यत्) जो 'वस्तु' (इन्द्रियाणाम्-उत्-शोषणम्) इन्द्रियों के-सुखाने वाले (मम-शोकम्) मेरे-शोक को (अपनुद्यात्) दूर करे 'वह वस्तु' (नहि-प्रपश्यामि) नहीं-देख रहा हूँ ।५५।

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं, गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।५६।

इति श्रीभगवद्गीतायाम् प्रथमोऽध्यायः ।

संजय बोले ।

(परन्तपः-गुडाकेशः) शत्रुओं को तपाने वाला-'और' नींद का जीतने वाला = अर्जुन (हृषीक-ईशम्-

गोविन्दम्) इन्द्रियों के स्वामी-गौवों के धनी = कृष्ण को (न-योत्स्ये) नहीं लड़ूँगा (एवम्-उक्त्वा) ऐसा कह कर (तूष्णीम्-बभूव-ह) चुप-हो गया ।५६।

यह श्रीभगवद्गीता का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।
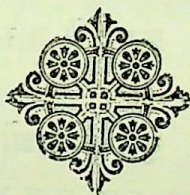
सार और संगति ।

द्वितीय अध्याय ।

सांख्य योग ।

अर्जुन के इस निषेध और उसकी दीनता से भरी प्रार्थना को सुन कर, और उसे धर्म संकट के कीचड़ में फँसा जानकर, योगिराज कृष्ण ने उसे धर्म का तत्व सुनाना आरम्भ किया ।

अर्जुन के सारे कथन में सार रूप तीन ही समस्याएँ थीं—

१—उसे अपने कुल पुरुषाओं की निकट भविष्य में होने वाली मृत्यु का शोक सता रहा था ।

२—वह अपने गुरुजनों तथा बन्धुबान्धवों को मारने में अधर्म समझता था ।

३—उसका झुकाव, अपने स्वभाव क्षात्रधर्म के अनुकूल, नियत कर्म, संग्राम को छोड़ कर कर्मसंन्यास की तरफ़ हो गया था ।

अर्जुन की ये ही तीन समस्याएँ हैं, जिनका कि निर्णय सम्पूर्ण गीता में किया गया है। इस अध्याय में पहिले सांख्य योग जड़ चेतन के (विवेक ज्ञान) द्वारा अर्जुन के शोक को दूर करने का यत्न किया गया है। कहा है—जन्म और मृत्यु तो शरीरों के आवश्यक धर्म हैं। जो वस्तु संसार में नहीं है उसकी उत्पत्ति, और जो है उसका नाश कभी नहीं होता। हां, प्रकृति की वस्तुएँ बहुरूपिया की तरह अनेक रूप अवश्य बदलती रहती हैं। और ये परिवर्तन तो तुमने शस्त्र उठाया तब भी और न उठाया तब भी अवश्य होंगे ही। यह तो हुई शरीरों की कथा। रह गया शरीर धारण करनेवाला आत्मा, सो वह अमर है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना भी उसका, पुराने वस्त्र को छोड़कर नया पहन लेने के समान है।

और यदि आत्मा को उत्पन्न और नष्ट होने वाला भी मान लें; तो भी जो उत्पन्न होता है, उसका नाश अवश्य होता है, इस लिये उसका भी नाश अवश्य ही होगा। और जब कि यह सारा ही दृश्य जगत् मृत्यु के चंगुल से कभी बच ही नहीं सकता, तो बताओ, शोक किस के लिये करते हो।

अर्जुन की दूसरी समस्या का हल महाराज ने इस संग्राम को 'धर्म्य' (धर्म के अनुकूल) कह कर एक शब्द से ही कर दिया है। अर्जुन भी महाराज के इस थोड़े से इशारे को सुनते ही इस अंश में अपने पक्ष की निर्बलता को झट समझ गया, और इसी लिये आगे चल कर दूसरी बार उसने इस विषय को छेड़ा ही नहीं। यथार्थ में अर्जुन के साथियों की ओर से यह संग्राम था भी धर्म के अनुकूल। कारण यह कि कौरवों द्वारा उनके ऊपर किये गये अन्याय और अत्याचार; मर्यादा को देर से तोड़ चुके थे। छल से जूए का खेल, भरी सभा में सती साध्वी द्रौपदी का घोर अपमान, वन को जाते हुए पाण्डवों की घृणित और अपमान-जनक खिल्लियें उड़ाना, लाक्षामण्डप में उनके जला देने की चेष्टा, वन-वास से लौटने पर भी, उनके भाग को भुजा के बल की धौंस देकर दबाए रखना, प्रार्थना करने पर भी, बिना युद्ध के सूई के नाक के बराबर भूमि देने तक से इनकार। इन सब, और इसी प्रकार के अन्य अत्याचारों को देखते हुए भी पाण्डव, यदि अपराधियों को दण्ड न देते; तो वे अपने क्षात्रधर्म को तो तिलाञ्जलि देते ही,

अपनी आनेवाली सन्तान को भी अपने इस आचरण से यह शिक्षा दे जाते, कि, एक क्षत्रिय अपना ग्रास छिनवा कर और अपमान के जूते खा कर भी जीवित रह सकता है।

कहा जा सकता है कि यह आदर्श तो ठीक है, परन्तु गुरुजनों और बन्धु बान्धवों को मारना भी तो पाप है ? नहीं नहीं कदापि नहीं। राज धर्म बड़ा कठोर धर्म है। क्षत्रिय अपने अत्याचारी पुत्र या पिता को भी यदि फांसी के तख़्ते पर खड़ा नहीं करता, तो वह घोर पाप का अधिकारी है। इस तथ्य को योगिराज कृष्ण के सामने स्वयम् पिता भीष्म ने स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है—

समय त्यागिनो लुब्धान्, गुरू न पिच केशव।
निहन्ति समरे पापान्, क्षत्रियः सहि धर्मवित्॥

म० भा० शा० प०। ५५। १६॥

अर्थ—हे कृष्ण ! लोभी और नियम को तोड़ने वाले, गुरुओं को भी जो संग्राम में मारता है, वह क्षत्रिय, धर्म को जानने वाला है।

इसी प्रकार उन्होंने युधिष्ठिर को भी कहा है—

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥

म० भा० शा० प० । १२१ । ६०॥

अर्थ—अपने धर्म पर स्थिर रहने वाले क्षत्रिय के लिये माता, पिता, भ्राता, पत्नी, आचार्य और पुरोहित सब ही को दण्ड देने का विधान है ।

इस संग्राम में लोभ के कारण सम्मिलित होना 'अर्थस्य पुरुषो दासः' (पुरुष धन का दास है) इन शब्दों को अपने लिये कह कर, पिता भीष्म और द्रोणाचार्य ने स्वयं स्वीकार किया है । और धन के लिये अन्याय का साथ देना धर्म का उल्लंघन है। इस लिये कृष्ण भगवान् का अर्जुन को यह कहना ठीक ही है कि यह युद्ध 'धर्म्य' (धर्म के अनुकूल) है। और इस इतने ही कथन से अर्जुन की दूसरी समस्या का भली भांति हल हो जाता है। अर्जुन की तीसरी समस्या का निर्णय आगे चल कर तीसरे अध्याय से आरम्भ होगा ।
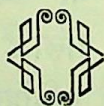
द्वितीय अध्याय।

सांख्य योग।

संजय उवाच।

तमुवाच हृषीकेशः, प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये, विषीदन्तमिदं वचः ।१।

संजय कहने लगा।

(भारत) हे भरत सन्तान = धृतराष्ट्र! (हृषीकेशः) कृष्ण (प्रहसन्-इव) मुस्कराते हुए (उभयोः-सेनयोः-मध्ये-विषीदन्तम्) दोनों-सेनाओं के-बीच में-उदास हुए हुए (तम्) उस = अर्जुन को (उवाच) कहने लगे।१।

श्रीभगवान उवाच।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं, प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः ।२।

श्री कृष्ण बोले ।

(त्वम्-अशोच्यान्-अनु-अशोचः) तू-जो शोक के योग्य नहीं उनका-शोक करता है, (च-प्रज्ञा-वादान्-भाषसे) और-पण्डिताई के-वचन-बोलता है । (पण्डिताः-गतअसून्-च-अगत-असून्) विद्वान् लोग-गए प्राण वालों और-न-गए-प्राण वालों का (न-अनुशोचन्ति) शोक नहीं करते ।२।

न त्वेवाहं जातु नासं, न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः, सर्वे वयमतः परम् ।३।

(न-तु-अहम्-जातु-न-आसम्) न-तो 'यह बात है कि'-मैं-कभी-नहीं-था । 'और' (न-त्वम्-न-इमे-जन-अधिपाः) न-'यह कि'- तू-'या'-ये-मनुष्यों के-स्वामी = राजा लोग 'कभी-नहीं थे' । (वयम्-सर्वे-अतः-परम्-न-भविष्यामः-इति-न-एव) हम-सब-इसके-बाद-न-होंगे-यह 'भी' नहीं है ।३।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।४।

(देहिनः-अस्मिन्-देहे) शरीरधारी के-इस-शरीर में,

(यथा-कौमारम्-यौवनम्-जरा) जैसे बालकपन, जवानी 'और' बुढ़ापा 'आते हैं' (तथा-देहान्तर-प्राप्तिः) उसी तरह-अन्य देह की-प्राप्ति 'होती है' (तत्र) उस विषय में (धीरः-न मुह्यति) बुद्धिमान्-मोह नहीं करता ।४।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्ण सुखदुःखदा ।
आगमापायिनोऽनित्या,स्तांस्तितिक्षस्व भारत ।५।

(कौन्तेय !) हे कुन्ति पुत्र ! (शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दाः) सर्दी-गर्मी-सुख 'और' दुःख-देने वाले (मात्रा-स्पर्शाः-तु) तत्वों के-सम्बन्ध तो (आगम-अपायिनः) आने-जाने वाले हैं = अनित्य हैं (भारत) हे भरत सन्तान (तान्-तितिक्षस्व) उनको-सहन कर ।५।

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते ।६।

(पुरुष-ऋषभ) हे नर श्रेष्ठ ! (एते) ये (सम-दुःख-सुखम्) २ दुःख 'और' ३ सुख में १ समान (यम्-धीरम्-पुरुषम्) जिस-बुद्धिमान्-पुरुष को (न-व्यथयन्ति) नहीं कष्ट देते । (स-अमृतत्वाय-कल्पते) वह-मोक्ष के लिये समर्थ होता है ।६।

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्त,स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।७।

(असतः) जो नहीं है उसकी (भावः) उत्पत्ति (न-विद्यते) नहीं होती। (सतः) जो है उसका (अभावः) नाश नहीं होता। (तत्व-दर्शिभिः) तत्व-ज्ञानियों ने (अनयोः-उभयोः-अपि) इन-दोनों का-ही (अन्तः-दृष्टः) सिद्धान्त-देखा है। "तात्पर्य यह कि सब वस्तुएं सदा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान् रहती ही हैं, इस लिये शोक किसका ।७।

अविनाशि तु तद्विद्धि, येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य, न कश्चित्कर्तुमर्हति ।८।

(येन) जिसने (इदम्-सर्वम्-ततम्) यह-सब-विस्तार किया है (तम्-तु-अविनाशि-विद्धि) उसे-न-नाश होनेवाला-जान। (अस्य-अव्ययस्य-विनाशम्) इस-अविनाशी का-नाश (कश्चित्-न-कर्तुम्-अर्हति) कोई-नहीं-कर-सकता। 'तात्पर्य यह कि जिस आत्मा ने अपने कर्मों की महिमा से इस संसार के उत्पन्न होने में प्रधान कार्य किया है, उसका नाश होता नहीं, इसलिये शोक किसका' ।८।

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद्युध्यस्व भारत ।६।

(अनाशिनः) नष्ट न होने वाले (अप्रमेयस्य) 'इन्द्रियों के' ज्ञान से दूर (नित्यस्य) नित्य (शरीरिणः) देहधारी के (इमे-देहाः) ये-शरीर (अन्तवन्तः) विनाशी (उक्ताः) कहे हैं 'फिर तो इन का नाश अवश्य होगा' (तस्मात्-युद्धयस्व) इस लिये-युद्ध करो ।६।

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो,नायं हन्ति न हन्यते ।१०।

(यः-एनम्-हन्तारम्-वेत्ति) जो-इसे-मारने वाला-जानता है । (च-यः-एतम्-हतम्-मन्यते) और-जो-इसे-मारा-हुआ-मानता है । (तौ-उभौ-न-विजानीतः) वे-दोनों-नहीं जानते । (न-अयम्-हन्ति-न-हन्यते) न-यह-मारता है, 'और' न-मारा जाता है ।१०।

न जायते म्रियते वा कदाचि,
न्नायंभूत्वा भविताावान भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।११।

(अयम्-कदाचित्-न-जायते-वा-न-मृयते) यह-कभी-न-उत्पन्न होता है-और-न-मरता है। (वा-न-भूत्वा-भूयः-भविता) और-न-हो कर-फिर-होगा। 'तात्पर्य यह कि बार बार उत्पन्न होना और मरना आत्मा का धर्म नहीं है, जन्म और मरण, केवल शरीर के साथ संयोग और वियोग मात्र हैं' (अयम्-अजः-नित्यः-शाश्वतः-पुराणः) यह-अजन्मा-सदा रहने वाला-स्थिर-'और' अनादि 'है'। (शरीरे-हन्यमाने-न-हन्यते) शरीर के-मारे जाने पर-नहीं-मरता ।२१।

वेदाविनाशिनं नित्यं, य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ, कं घातयति हन्ति कम् ।२१।

(यः-एनम्) जो-इसे = आत्मा को (अविनाशिनम्-नित्यम्-अजम्-अव्ययम्-वेद) नष्ट न होने वाला-नित्य-अजन्मा-अविकारी-जानता है। (पार्थ-स-पुरुषः-कथम्-कम्-घातयति-कम्-हन्ति) हे पृथा पुत्र! वह-पुरुष-कैसे-किसे-मरवाता है 'और'-किसे मारता है। 'तात्पर्य यह कि जो आत्मा को नित्य जानता है, उसके हृदय में मरने और मारने का भाव उठ ही नहीं सकता। वह तो सब कर्मों को कर्त्तव्य समझ कर करता है। युद्ध में भी

उसके हृदय में मरने मारने के विचार न उठेंगे। बल्कि वह इस कर्म को भी कर्त्तव्य समझ कर ही करेगा ।१२।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।१३।

(यथा-नरः-जीर्णानि-वासांसि-विहाय) जैसे-मनुष्य-पुराने-कपड़ों को-छोड़ कर (अपराणि-नवानि-गृह्णाति) और-नये-पहनता है । (तथा-देही-जीर्णानि-शरीराणि-विहाय) वैसे ही-शरीरधारी-पुराने-शरीरों को छोड़कर (अन्यानि-नवानि-संयाति) और-नयों में-प्रवेश करता है । 'भाव यह है कि धर्म युद्ध में लड़ने वालों को तो दो अलभ्य लाभ होते हैं, एक तो वे अपने कर्तव्य का पालन कर जाते हैं, और दूसरे पुराने शरीर को फेंक कर नया ले लेते हैं । ऐसी अवस्था में जिनके मरने का तुम शोक कर रहे हो, क्या वे घाटे में हैं ?' ।१३।

प्रश्न--तो क्या मरने पर इसका कुछ भी नहीं बिगड़ता, आखिर शरीर के कटने पर, जलने पर, इसका भी तो कुछ बिगड़ता ही होगा ?

उत्तर--नहीं कुछ नहीं बिगड़ता। क्योंकि कहा है--

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।१४।

(एनम्-शस्त्राणि-न-छिन्दन्ति) इसे-शस्त्र-नहीं-काटते, (एनम्-पावकः-न-दहति) इसे-अग्नि-नहीं-जलाती, (एनम् आपः-न-क्लेदयन्ति) इसे-जल-नहीं-गलाता, (च-मारुतः एनम्-न-शोषयति) और-वायु-इसे-नहीं सुखाता ।१४।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय, मविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं, नानुशोचितुमर्हसि ।१५।

(अयम्) यह-आत्मा (अव्यक्तः) अप्रकट = दृष्टि से परे (अयम्-अचिन्त्यः) यह-विचार से दूर 'और' (अयम्-अविकार्यः) यह विकार से रहित (उच्यते) कहा जाता है। (तस्मात्-एनम्) इसलिये-इसे (एवम्-) विदित्वा) ऐसा-जानकर (अनुशोचितुम्) शोक करना (न-अर्हसि) नहीं चाहिये ।१५।

अथ चैनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो, नैवं शोचितुमर्हसि ।१६।

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (च-अथ-एनम्) और-यदि-इसे (नित्य-जातम्-वा-नित्यम्-मृतम्-मन्यसे) नित्य-उत्पन्न होने वाला-और-नित्य-मरने वाला मानते हो (तथा-अपि-त्वम्-एवम्-अनुशोचितुम्-न-अर्हसि) ऐसा होते हुए-भी-तुझे-इस प्रकार-शोक करना-नहीं-चाहिये ।१६।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु, र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे, न त्वं शोचितुमर्हसि ।१७।

(हि-जातस्य-मृत्युः = ध्रुवः) क्योंकि-पैदा होने वाले की मृत्यु निश्चित है । (च-मृतस्य-जन्म-ध्रुवम्) और-मरे हुए की-उत्पत्ति-निश्चित है । (तस्मात्-अपरिहार्ये-अर्थे-त्वम्-शोचितुम्-न-अर्हसि) इसलिये-न टलने वाले-विषय में तू = तुझे-शोक करना नहीं चाहिये ।१७।

ननु—यदि आत्मा के उत्पत्ति और नाश मान लिये जावें; तब तो यह शरीर की रचना में काम आनेवाले भूतों के समान ही होगया। और यदि ऐसा ही है, तब तो—

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ।१८।

(भूतानि-अव्यक्त-आदीनि) 'ये' भूत तो-अव्यक्त से = सूक्ष्म प्रकृति से-आरम्भ होते हैं (व्यक्त-मध्यानि) २ बीच में १ प्रकट रूप होते हैं। (अव्यक्त-निधनानि-एव) 'और' २ नाश के समय 'फिर' १ सूक्ष्म अदृश्य ही होते हैं। (तत्र-परिदेवना-का) इस विषय में-शोक-क्या ? 'भूतों की ये तीन अवस्थाएँ तो अवश्य बदलेंगी ही, फिर इसके लिये शोक क्यों' ।१८।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन,
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।१९।

'परन्तु यथार्थ में आत्मा भूतों के समान नहीं, उनसे विलक्षण है। क्योंकि इसे अनुभव करने वालों के ऐसे ही वक्तव्य हैं, (कश्चित्-एनम्-आश्चर्यवत्-पश्यति) कोई-इसे-आश्चर्य से भरा-'भूतों से विलक्षण'-देखता है। (तथा-एव-च-अन्यः-आश्चर्यवत्-वदति) वैसे-ही-दूसरा-आश्चर्य से भरा-कहता है। (च-अन्यः-एनम्-आश्चर्यवत् शृणोति) और-तीसरा-इसे-आश्चर्य से भरा-सुनता है।

(च-श्रुत्वा-अपि-एनम्-कश्चित्-न-एव-वेद) और-सुन कर-भी-इसे-कोई ३ जानता २ ही १ नहीं ।

देही नित्यमवध्योऽयं, देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि, न त्वं शोचितुमर्हसि ।२०

मेरी तो आत्मा के बारे में निश्चित सम्मति यह ही है कि (अयम्-देही-सर्वस्य देहे-नित्यम्-अवध्यः) यह आत्मा-सब के-शरीर में-सदा-अमर है । (तस्मात्-त्वम्-सर्वाणि-भूतानि-शोचितुम्-न-अर्हसि) इस लिये-तू = तुझे-सब-प्राणियों का-शोक करना-न-चाहिये ।२०।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

(च-स्वधर्मम्-अपि-अवेक्ष्य) और-अपने धर्म को-भी-देख कर (विकम्पितुम्-न-अर्हसि) डोलना-नहीं-चाहिये (हि-क्षत्रियस्य) क्योंकि-क्षत्रिय के लिये (धर्म्यात्-युद्धात्-अन्यत्) धर्म के अनुकूल-युद्ध से-दूसरा (श्रेयः) श्रेष्ठ 'कर्म' (न-विद्यते) नहीं-है ।२१।

यदृच्छया चोपपन्नं, स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्धमीदृशम् ।२२

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (यदृच्छया-उपपन्नम्) अपने आप ही-प्राप्त हुए (अपावृतम्-स्वर्ग-द्वारम्) खुले हुए-स्वर्ग के-दर्वाज़े, (ईदृशम्-युद्धम्) इस प्रकार के-युद्ध को (सुखिनः-पार्थिवाः) सौभाग्य वाले-राजा (लभन्ते) पाया करते हैं ।२२।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं, संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च, हित्वा पापमवाप्स्यसि ।२३।

(अथ-चेत्-त्वम्) अब-यदि-तू (इमम्-धर्म्यम्-संग्रामम्) इस-धर्म के अनुकूल-संग्राम को (न-करिष्यसि) नहीं-करेगा (ततः) तो (स्व-धर्मम्-च-कीर्तिम्-हित्वा) अपने-धर्म-और-यश को-त्याग कर (पापम्-अवाप्स्यसि) पाप को-प्राप्त करेगा ।२३।

अकीर्तिंचापिभूतानि, कथयिष्यन्तितेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्ति, र्मरणादतिरिच्यते ।२४।

(च-भूतानि-ते) और-लोग-तेरे (अव्ययाम्-अकीर्तिम्-कथयिष्यन्ति) चिरस्थायी-अपयश का-कीर्तन-किया करेंगे (च-सम्भावितस्य-अकीर्तिः) और-माने हुए का-अपयश (मरणात्-अतिरिच्यते) मौत से-बढ़ कर है ।२४।

भयाद्रणादुपरतं, मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो, भूत्वा यास्यासि लाघवम् ।२५।

(महारथाः-त्वाम्) महारथी लोग-तुझे (रणात्-भयात्-उपरतम्-मंस्यन्ते) युद्ध से-डर से-हटा हुआ-समझेंगे (च-त्वम्-येषाम्-बहुमतः) और-तू-जिनको = जिन्होंने-बड़ा माना हुआ है (भूत्वा-लाघवम्-यास्यसि फिर-'उन्हीं की दृष्टि में' हलकेपन को प्राप्त करेगा ।२५।

अवाच्यवादांश्च बहून्, वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं, ततो दुःखतरं नु किम् ।२६।

(च-तव-अहिताः) और-तेरे-शत्रु (तव-सामर्थ्यम्-निन्दन्तः) तेरी-शक्ति की-निन्दा करते हुए (बहून्-अवाच्य-वादान्-वदिष्यन्ति) बहुत से न कहने योग्य-वचन-कहेंगे । (नु) भला (ततः-दुःतरम्-किम्) उससे-अधिक दुख क्या है ।२६।

हतोवाप्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ।२७।

(वा-हतः-स्वर्गम्-प्राप्स्यसि) यदि-मारा गया 'तो' स्वर्ग को-प्राप्त करेगा । (वा-जित्वा-महीम्-भोक्ष्यसे)

'और' यदि-जीत गया 'तो' पृथिवी का-भोग करेगा। (तस्मात्-कौन्तेय) इसलिये हे कुन्तिपुत्र ! (युद्धाय-कृत-निश्चयः-उत्तिष्ठ) युद्ध के लिये निश्चय करके उठ ।२७।

'यह ऊपर की बात हमने सांसारिक दृष्टि से कही है। तुम जिस भावना के अधिकारी हो, वह यह है'।

सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापमवाप्स्यसि ।२८।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः ।

(सुख-दुःखे-लाभ-अलाभौ-जय-अजयौ-समे-कृत्वा) सुख-दुःख-लाभ-हानि 'और' जय-पराजय को-समान-समझ कर (ततः-युद्धाय-युज्यस्व) फिर-युद्ध के लिये-तैयार हो। (एवम्-पापम्-न-अवाप्स्यसि) इस तरह-पाप न-लगेगा ।२८।

श्रीमद्भगवद्गीता का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।
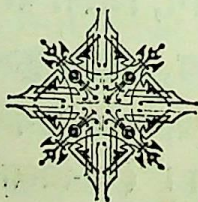
सार और संगति।

तृतीय अध्याय।

कर्म योग।

अर्जुन की दो समस्याओं का निर्णय महाराज ने दूसरे अध्याय में कर दिया है। उसकी तीसरी समस्या थी 'कर्मसंन्यास' अर्थात् अपने वर्ण-धर्म वर्तमान युद्ध को त्याग कर, भीख मांग कर खा लेने का विचार। कर्म को छोड़ देना चाहिये या नहीं यह ही एक समस्या है। और इसी का निर्णय महाराज ने इस अध्याय में किया है। यदि यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि यह अध्याय एक सूत्र है, और शेष सम्पूर्ण गीता इसका भाष्य है।

महाराज ने कहा, अर्जुन ! तुम कर्म का त्याग किस लिये करना चाहते हो। क्या इसी लिये कि एक छोटे

से भूमि के टुकड़े की इच्छा से बन्धु-बान्धवों की हत्या निन्दित कर्म है। निश्चय ही यह घृणित कर्म है। परन्तु तभी तक, जब तक कि इस कर्म के साथ उस भूमि के टुकड़े को प्राप्त करने की भावना जुड़ी हुई है। तुम्हारे इस संग्राम के लिये ही नहीं, फल की कामना तो किसी भी कर्म के लिये प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि फल की कामना, कर्म के सुन्दर भाग कर्तव्य बुद्धि का नाश कर देती है। फल की कामना इसलिये भी निन्दित है कि फल अनेक प्रकार के होते हैं, और उन अनेक फलों के चक्र पर चढ़ी हुई बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। इसलिये कर्म के इस अंश (फल की कामना) का त्याग निश्चय ही आवश्यक है।

अब कर्म के दूसरे भाग पर दृष्टि डालिये। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रिय का परम धर्म है। और यह ही तुम्हारे वर्तमान संग्राम-रूपी कर्म का दूसरा भाग है। इसी का नाम कर्तव्य है, और इसी का नाम अभिक्रम (कर्तव्य पालन रूप कर्म) है। कर्म का यह ही अंश मनुष्य के अधिकार की चीज़ है। हां, तो अर्जुन! क्या कर्म के इस अंश को भी छोड़ देना चाहिये?

मैं तो कहूँगा कि नहीं, कदापि नहीं, कर्तव्य का त्याग किसी भी शास्त्र का सिद्धान्त नहीं। कर्म करने में यह ही तो चातुरी है, कि कर्म के केवल कर्तव्य भाग को हाथ में लेकर मनुष्य पाप और पुण्य दोनों से पिण्ड छुड़ा ले। इसलिये अर्जुन! फल की कामना को छोड़ कर फल के मिलने या न मिलने पर भी समान रहता हुआ, कर्तव्य बुद्धि से कर्म करता चल। यह मार्ग साधारण मार्ग नहीं राजमार्ग है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह संसार को पार करता हुआ मोक्ष के द्वार तक सीधा चला जाता है।
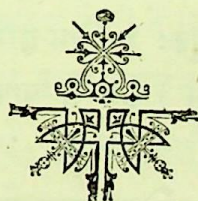
तृतीय अध्याय।

कर्म योग।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये, बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ, कर्मबन्धं प्रहास्यसि।१।

(पार्थ) हे पृथापुत्र! (एषा-ते) यह तुझे (सांख्ये-बुद्धिः-अभिहिता) आत्मा और अनात्मा के विवेक के विषय में-ज्ञान का-उपदेश किया। (योगे-तु-इमाम्-शृणु) 'अब' कर्मयोग के आधार पर-भी-इस 'आगे के ज्ञान को' सुन (यया-बुद्ध्या-युक्तः) जिस-ज्ञान से-युक्त हुआ २ (कर्मबन्धम्-प्रहास्यसि) कर्म के 'पाप-पुण्य रूप' बन्धन को-तोड़ देगा।१।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।२।

(इह-अभिक्रम-नाशः-न-अस्ति) इस मार्ग में-कर्तव्य

का-त्याग-नहीं-है, (प्रत्यवायः-न-विद्यते) 'और' पाप-नहीं-है । (अस्य-धर्मस्य-स्वल्पम्-अपि) इस-धर्म का-थोड़ा भाग-भी (महतः-भयात्-त्रायते) बड़े-भय से-रक्षा-करता है ।२।

व्यवसायात्मिका बुद्धि, रेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।३

(कुरुनन्दन) हे कुरुपुत्र ! (इह-बुद्धिः-व्यवसाय-आत्मिका) यहां 'कर्मयोग मार्ग में'-निश्चय-रूप (एका-बुद्धिः) एक ही बुद्धि = बुद्धि की वृत्ति है । 'अनेक फलों की कामना होने के कारण' (अव्यवसायिनाम्) अनिश्चित मति वालों की (बुद्धयः) बुद्धि की वृत्तियें (बहु-शाखाः) 'फलों की' अनेक-शाखाओं में बँटी हुई (च) और (अनन्ताः) अनेक होती हैं ।३।

यामिमां पुष्पितां वाचं, प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ, नान्यदस्तीति वादिनः ।४।
कामात्मानः स्वर्गपरा, जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां, भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।५।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (कामात्मानः) कामनाओं

में तन्मय हुए २ (स्वर्ग-पराः) स्वर्ग को ध्येय समझने वाले (वेद-वाद-रताः 'कर्मकाण्ड रूप' वेद के-वचनों में-मस्त रहने वाले 'परन्तु वेद के सार को न जानने वाले, और इसी लिये' (अन्यत्-न-अस्ति-इति-वादिनः) 'सकाम कर्म से' भिन्न-'और कुछ' नहीं-है-यह-कहने वाले) (अविपश्चितः) अविद्वान् (जन्म-कर्म-फलप्रदाम्) जन्म 'और'-कर्मफल को-देने वाली (क्रिया-विशेष-बहुलाम्) २ विशेष-१ क्रियाओं के-विस्तार वाली (भोग-ऐश्वर्य-गतिं प्रति) भोग 'तथा' ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाली (इमाम्-पुष्पिताम् वाचम्) इस-मनोहर 'सकाम कर्म रूप'-वाणी को (प्रवदन्ति) बल पूर्वक कहते हैं ।४।५।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां, तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः, समाधौ न विधीयते ।६।

(तया) उस 'सकाम कर्म की विधि' से (अपहृत-चेतसाम्) खिंचे चित्त वाले (भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम्) भोग-'और'-ऐश्वर्य में-लगे हुए 'मनुष्यों की' (व्यवसाय-आत्मिका-बुद्धिः) निश्चय रूप-बुद्धि की वृत्ति (समाधौ-न-विधीयते) एकाग्रता में-उपयोगी नहीं होती ।६।

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू, र्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।७।

'इस लिये हे अर्जुन! बुद्धि को निश्चल करने के लिये फल की कामना का परित्याग कर दे। और इस लिये भी फल की कामना न कर, कि यह तेरे अधिकार की चीज़ नहीं है।' (ते-कर्मणि-एव-अधिकारः) तेरा-कर्म करने में-ही अधिकार है (फलेषु-कदाचन-न) फलों पर-कभी भी-नहीं। 'इसलिये तेरा' (कर्म-फलहेतुः-मा-भूः) कर्म-फल प्राप्ति के-निमित्त से-न हो। (ते-सङ्गः-अकर्मणि-मा-अस्तु) 'और' तेरा-लगाव-कर्म के त्याग से न-हो।७।

योगस्थः कुरु कर्माणि, संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा, समत्वं योगउच्यते।८

(धनञ्जय) हे धन को जीतने वाले = अर्जुन! (सङ्गम्-त्यक्त्वा) फल की आसक्ति को-छोड़ कर (सिद्धि-असिद्धयोः-समः-भूत्वा) फल की प्राप्ति-'और' अप्राप्ति में-समान-रह कर (योगस्थः) 'सम भावना' के योग में स्थिर होकर (कर्माणि-कुरु) कर्म कर। (समत्वम्-योगः-उच्यते) 'इस' समता को ही-योग कहा है।८।

दूरेण ह्यवरं कर्म, बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ, कृपणाः फलहेतवः ।९।

(धनञ्जय) हे धनञ्जय ! (कर्म) सकाम कर्म (बुद्धि-योगात्) समत्व बुद्धि 'नामक' योग से (दूरेण-अवरम्) बहुत ही-छोटा है । 'इस लिये' (बुद्धौ) समता की बुद्धि में (शरणम्-अन्विच्छ) आश्रय ढूंढ। (फल-हेतवः) फल को-निमित्त मानने वाले (कृपणाः) दया के पात्र हैं = छोटी श्रेणी के लोग हैं ।९।

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम् ।१०

(इह-बुद्धि-युक्तः-सुकृत-दुष्कृते-उभे-जहाति) यहां पर-साम्य बुद्धि = ज्ञान और कर्म में समानता के भाव से-युक्त 'पुरुष' पुण्य 'और'-पाप-दोनों को-छोड़ देता है, 'अर्थात् दोनों से छूट जाता है' । (तस्मात्-योगाय-युज्यस्व) इस लिये-योग के लिये-तत्पर हो । (कर्मसु-कौशलम्-योगः) कर्म करने में-चतुराई = 'फल की कामना को छोड़ कर कर्म करना ही' योग है ।१०।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदं गच्छन्त्यनामयम् ।११

(बुद्धि-युक्ताः-मनीषिणः-कर्मजम्-फलम्-त्यक्त्वा) साम्य बुद्धि वाले = बुद्धिमान् लोग-कर्म से होने वाले फल को छोड़ कर (जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः) जन्म के-बन्धन से-छूटे हुए (अनामयम्-पदम्-गच्छन्ति) रोग से रहित-स्थान = 'मोक्ष' को-प्राप्त होते हैं ।११।

यदा ते मोहकलिलं, बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।१२

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः ।

(यदा-ते-बुद्धिः) जब-तेरी-बुद्धि (मोह-कलिलम्-व्यतितरिष्यति) मोह के-कीचड़ से-पार हो जावेगी । (तदा-श्रोतव्यस्य-च-श्रुतस्य) तब-आगे सुनने वाले-और-सुने हुए 'सकाम कर्म से' (निर्वेदम्) वैराग्य को (गन्तासि) प्राप्त करेगा ।१२।

श्रीमद्भगवद्गीता का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।
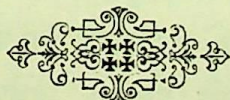
सार और संगति।

चतुर्थ अध्याय।

स्थितप्रज्ञ का लक्षण।

तृतीय अध्याय में महाराज ने स्थिरबुद्धि की प्रशंसा की थी, और उसे कर्मयोग की सहायक बतलाया था। उसकी विशेषताओं को जानने की अर्जुन को जिज्ञासा हुई, और उसने प्रश्न किया कि महाराज जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई हो, उस मनुष्य का बोलना, उठना, बैठना और चलना फिरना किस प्रकार का होता है।

इस का उत्तर देते हुए महाराज ने, कामनाओं का त्याग, सन्तोष, दुःख और सुख में एक रस रहना, राग, भय और क्रोध का त्याग, शुभ और अशुभ किसी में भी लिप्त न होना, इन्द्रियों का दमन, प्रेम और द्वेष का त्याग ये सब स्थिर बुद्धि वाले पुरुष के विशेष गुण बतलाये।

और आगे चल कर इस अवस्था को प्राप्त करने के साधनों का वर्णन किया है। इन साधनों को यहां पर दो भागों में बांटा गया है। उन में से एक है विषयों का सर्वथा त्याग, और दूसरा राग-द्वेष रहित इन्द्रियों से विषयों का सेवन।

इनमें से पहिला साधन, प्रथम तो है ही बड़ा कठिन। और फिर यदि किसी प्रकार उसका अनुष्ठान किया भी जावे तो, अन्तःकरण का धर्म, रस (राग) फिर भी शेष रह जाता है। क्योंकि राग को दूर करने की अभी तक कोई चेष्टा की ही नहीं गई। अब इस राग की निवृत्ति कहीं भगवान् का दर्शन होने पर ही होगी। परन्तु भगवान् का दर्शन राग के होते हुए होना कठिन है। इस लिये भगवान् का दर्शन करने के लिये विषयों का त्याग करने पर भी विषयों के राग को मिटाने के लिये यत्न करना ही पड़ेगा। हां दूसरा साधन सरल है, और उसका क्रम भी ठीक है। और इसी लिये महाराज ने भी इसे अन्त में लिखा है। राग और द्वेष को त्याग कर विषयों का सेवन करने से विषयों में उपेक्षा होनी आरम्भ हो जाती है। और राग तथा द्वेष के साथ-साथ

विषयों का सङ्ग भी छूट जाता है। महाराज ने कहा है कि इस साधन से, चित्त निर्मल होता है, दुःख छूटते हैं और बुद्धि स्थिर होती है। बुद्धि की स्थिरता, केवल राग द्वेष छोड़ कर विषयों के सेवन से ही नहीं हो जाती। इस के लिये योग की, योग के लिये चित्त की शान्ति की, और शान्ति के लिये कामनाओं के त्याग की भी आवश्यकता है। इस के बाद जो स्थिति प्राप्त होती है, उसी का नाम, स्थिर-बुद्धि और ब्राह्मी-स्थिति है। इस स्थिति में पहुंचे हुए मनुष्य को ही स्थित-प्रज्ञ कहते हैं। इसी अध्याय में तीसरी अवस्था लिखी है राग और द्वेष के साथ विषयों के सेवन की। और इस अवस्था को मनुष्य के सर्वनाश का कारण बतलाया है।

चतुर्थ अध्याय ।

कर्म योग ।

(स्थित प्रज्ञ का लक्षण)

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ।१।

अर्जुन ने कहा ।

हे केशव ! (समाधिस्थस्य) चित्त को एकाग्र करने वाले (स्थितप्रज्ञस्य) स्थिर बुद्धि वाले 'मनुष्य' का (का-भाषा) क्या-लक्षण है । (स्थितधीः) स्थिर बुद्धि वाला (किम्-प्रभाषेत) क्या बोलता है, (किम्-आसीत) कैसे बैठता है, (किम्-व्रजेत) कैसे-चलता है ।१।

श्रीभगवान उवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।२।

श्रीभगवान ने कहा ।

(पार्थ) हे पृथा पुत्र ! (आत्मना-आत्मनि-एव-तुष्टः) अपने आपसे-अपने आप में-ही-प्रसन्न हुआ (यदा-मनो गतान्) जब-मन में-होने वाले (सर्वान्-कामान्) सब-संकल्पों को (प्रजहाति) छोड़ देता है । (तदा-स्थित-प्रज्ञः-उच्यते) तब-स्थिर-बुद्धि वाला-कहा जाता है ।२।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।३।

(दुःखेषु-अनुद्विग्न-मनाः) दुःखों में-न-उखड़ने वाले = स्थिर-चित्त वाला, (सुखेषु) सुखों के समय (विगत-स्पृहः) २ आसक्ति से-१ रहित, (वीत-राग-भय-क्रोधः) २ राग-३ भय और ४ क्रोध को-१ दूर करने वाला (मुनिः) मननशील 'मनुष्य' (स्थितधीः) स्थित प्रज्ञ (उच्यते) कहलाता है ।३।

यः सर्वत्रानभिस्नेह, स्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।४।

(यः सर्वत्र-अनभिस्नेहः) जो-सब जगह-स्नेह से रहित है (तत्- तत्-शुभ-अशुभम्-प्राप्य) उस-उस-मंगल

'और' अमंगल को-प्राप्त करके (न-अभिनन्दति-न-द्वेष्टि) न-प्रसन्न होता है-'और' न-द्वेष करता है, (तस्य-प्रज्ञा-प्रतिष्ठिता) उसकी-बुद्धि-स्थिर है ।४।

यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य, स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।५।

(यदा-अयम्-सर्वशः) जब-यह-सब ओर से, (अंगानि-कूर्मः-इव) अंगों को कछुवे की-तरह (विषयेभ्यः-इन्द्रियाणि) विषयों से-इन्द्रियों को (संहरते) खींच लेता है, 'तब' (तस्य-प्रज्ञा-प्रतिष्ठिता) उसकी=इसकी-बुद्धि-स्थिर होती है ।५।

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ।६।

(निराहारस्य-देहिनः) भोजन छोड़ देने वाले-मनुष्य के (विषयाः) विषय (रस-वर्जम्) विषयों की चाह=राग को-छोड़ कर (विनिवर्तन्ते) लौट जाते हैं। (अस्य-रसः-अपि) इसका-राग-भी (परम्-दृष्ट्वा) भगवान् के-दर्शन होने पर (निवर्तते) हट जाता है ।६।

ध्यायतो विषयान्पुंसः, संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ।७

(विषयान्-ध्यायतः-पुंसः) विषयों का-चिन्तन करते हुए-पुरुष की (तेषु-संगः-उपजायते) उन 'विषयों में' आसक्ति उत्पन्न हो जाती है । (संगात् कामः-सञ्जायते) आसक्ति से-राग-उत्पन्न हो जाता है । (कामात्-क्रोधः-अभिजायते) राग से-क्रोध-उत्पन्न हो जाता है ।७।

क्रोधाद्भवति संमोहः, संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।८।

(क्रोधात्-सम्मोहः-भवति) क्रोध से-अविवेक-होता है । (सम्मोहात्-स्मृति-विभ्रमः) अविवेक से-स्मृति में-विकार (स्मृति-भ्रंशात्) स्मृति के-नाश से (बुद्धि-नाशः) बुद्धि का नाश 'और' (बुद्धि-नाशात्) बुद्धि के-नाश से (प्रणश्यति) नष्ट होजाता है ।८।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ।६।

(राग-द्वेष-वियुक्तैः) राग 'और'-द्वेष से-पृथक् की हुई, (आत्म-वश्यैः) 'और' अपने-वश में की हुई

(इन्द्रियैः) इन्द्रियों से (विषयान्-चरन्) विषयों का सेवन करता हुआ, (विधेय-आत्मा) विनीत-आत्मा (प्रसादम्-अधिगच्छति) निर्मलता को प्राप्त करता है ।६।

प्रसादे सर्वदुःखानां, हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।१०।

(प्रसादे) निर्मल होने पर (अस्य-सर्व-दुःखानाम्) इसके-सब-दुःखों का (हानिः-उपजायते) नाश हो जाता है । (हि-प्रसन्न-चेतसः) और-निर्मल-चित्त वाले की (बुद्धिः-आशु-पर्यवतिष्ठते) बुद्धि-जल्दी-स्थिर हो जाती है ।१०।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्ति,रशान्तस्य कुतः सुखम् ।११

(अयुक्तस्य) योगयुक्त न होने वाले की (बुद्धिः-नास्ति) 'स्थिर' बुद्धि-नहीं होती । (च-अयुक्तस्य-भावना-न) योगयुक्त न होने वाले की-साम्य भावना 'भी' नहीं 'होती' (च-अभावयतः-शान्तिः-न) और-'समता' का भाव न रखने वाले को-शान्ति-नहीं (अशान्तस्य-सुखम्-कुतः) अशान्त को-सुख-कहां से ।११।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।१२।

(आपूर्यमाणम्) पूर्ण हुए २ (अचल-प्रतिष्ठम्) निश्चल-स्थिति वाले (समुद्रम्-यद्वत्-आपः-प्रविशन्ति) समुद्र में-जिस प्रकार-जल-प्रवेश करते हैं। (तद्वत्-यम्-सर्वे-कामाः-प्रविशन्ति) उसी प्रकार-जिसमें-सब-कामनाएं-समाप्त हो जाती हैं = अर्थात् जिसकी सब कामनाएं समाप्त हो जाती हैं। (सः-शान्तिम्-आप्नोति) वह-शान्ति को-प्राप्त करता है (काम-कामी-न) कामनाओं का-चाहने वाला-नहीं ।१२।

विहाय कामान्यः सर्वा, न्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः, स शान्तिमधिगच्छति ।१३।

(यः-पुमान्-सर्वान्-कामान्-विहाय) जो-पुरुष-सब-कामनाओं को-छोड़ कर (निःस्पृहः-निर्ममः-निरहङ्कारः) इच्छा से रहित-ममता से रहित-'और' अहंकार से रहित

'होकर' (चरति) विचरता है (सः-शान्तिम्-अधिगच्छति) वह-शान्ति को-प्राप्त करता है ।१३।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ, नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।१४।

इति श्री भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः ।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (एषा-ब्राह्मी-स्थितिः) यह ब्रह्म-निष्ठा = 'कर्मयोग की अन्तिम अवस्था' है । (एनाम्-प्राप्य-न-विमुह्यति) इसे-प्राप्त करके-२ मोहित-१ नहीं होता । अन्तकाले-अपि) मृत्यु के-समय-भी (अस्याम्-स्थित्वा) इस 'स्थिति' में-रह कर (ब्रह्म-निर्वाणम्) ब्रह्म-प्राप्ति का (ऋच्छति) लाभ करता है ।१४।

यह श्री भगवद्गीता का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति ।

पञ्चम अध्याय ।

कर्म-संन्यास की अशक्यता ।

तृतीय अध्याय के नवें श्लोक में महाराज ने साम्य बुद्धि को सकाम कर्म से श्रेष्ठ कहा था । महाराज के इस वचन में अर्जुन को अपने विचार के लिये कुछ आश्रय मिलता दिखाई दिया । और इसीलिये उसने कह दिया कि, महाराज ! यदि आप कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे भी इस संग्राम के घोर कर्म को छोड़कर बुद्धि की शरण में ही जाने दीजिये । और यदि ऐसा नहीं है तो निश्चय करके एक बात बतलाइये ।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने कहा कि, अर्जुन ! सांख्यों के ज्ञान-योग और योगियों के कर्म-योग का वर्णन हमने पहिले किया है । महाराज का इस

कथन से तात्पर्य यह था कि इन दोनों ही निष्ठाओं के आधार पर हम पहिले कर्म करने का उपदेश दे आये हैं, कर्म के त्याग का नहीं। जिसने साम्य बुद्धि प्राप्त कर ली हो उस ज्ञानी को भी कर्म करने ही पड़ते हैं। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उसके मानसिक भाव उससे डण्डे के बल से काम कराते रहते हैं। यह हो सकता है कि कोई बाह्य इन्द्रियों को हठ से कर्म करने से रोक दे। परन्तु फिर भी मन से उन कर्मों का चिन्तन अवश्य होता ही रहेगा।

और यह इस प्रकार का दोरंगा कर्म, लोक दिखावा है, मिथ्याचार है। बिना कर्म किये तो शरीर का निर्वाह चलना भी कठिन है। इसलिये शरीर के रहते हुए कर्म का त्याग असम्भव है। इसकी अपेक्षा तो यह अच्छा है कि मन से ज्ञान इन्द्रियों को रोकता हुआ, आसक्ति छोड़कर, कर्म इन्द्रियों से वर्ण और आश्रम के अनुकूल नियत कर्म करता चल।

पंचम अध्याय ।

कर्म योग ।
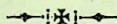
(कर्म-संन्यास की अशक्यता)

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते, मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां, नियोजयसि केशव ।१।

अर्जुन ने कहा ।

हे जनार्दन ! (चेत्-ते-कर्मणः-बुद्धिः-ज्यायसी-मता) यदि-तुम्हें-कर्म से-बुद्धि-श्रेष्ठ-अभीष्ट है । (तत्-माम्-घोरे-कर्मणि) तो मुझे-'संग्राम के' भयंकर-कर्म में (किम्-नियोजयसि) क्यों लगाते हो ।१।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन, बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।२।

(व्यामिश्रेण-इव) मिले हुए-जैसे = दुरंगे (वाक्येन) वचन से (मे-बुद्धिम्) मेरी-बुद्धि को (मोहयसि-इव)

भ्रान्त सी कर रहे हो। (तत्-एकम्-निश्चित्य-वद) सो एक निश्चय करके-कहो (येन-अहम्-श्रेयः-आप्नुयाम्) जिससे-मैं कल्याण को-प्राप्त करूँ।२।

श्रीभगवान उवाच।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेनयोगिनाम्।३।

श्रीकृष्ण ने कहा।

(अनघ) हे निष्पाप ! (पुरा-मया) पहिले-मैंने (अस्मिन्-लोके) इस-जगत् में (सांख्यानाम्-ज्ञान-योगेन) सांख्यों की-ज्ञान योग से (योगिनाम्-कर्म-योगेन) 'और' योगियों की-कर्म योग से (द्विविधा-निष्ठा) दो प्रकार की निष्ठा (प्रोक्ता) कही है।३।

न कर्मणामनारम्भा, न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव, सिद्धिं समधिगच्छति।४।

(पुरुषः-कर्मणाम्-अनारम्भात्) पुरुष-कर्मों के-आरम्भ न करने से (नैष्कर्म्यम्-न-अश्नुते) कर्म के अभाव को-नहीं-प्राप्त करता। (च-न-संन्यसनात्-एव)

और-न-कर्म के त्याग से-ही (सिद्धिम्-समधिगच्छति) सिद्धि को-प्राप्त करता है ।४।

न हि कश्चित्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।५।

(हि-कश्चित्-क्षणम्-अपि) क्योंकि-कोई-पल-भी (अकर्मकृत्) कर्म किये बिना (न-तिष्ठति) नहीं-रहता। (सर्वः-प्रकृतिजैः-गुणैः) सब को-स्वभाव के-गुणों द्वारा (अवशः-कर्म-कार्यते) विवश-कर्म-कराये जाते हैं ।५।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ।६।

(यः-विमूढ-आत्मा) जो-भ्रान्त-आत्मा (कर्म-इन्द्रियाणि-संयम्य) कर्म-इन्द्रियों को-रोक कर (इन्द्रिय-अर्थान्-मनसा-स्मरन्-आस्ते) इन्द्रियों के-विषयों का-मन से-चिन्तन-करता रहता है, (स-मिथ्या-आचारः-उच्यते) वह-असत्य-आचार वाला-कहलाता है ।६।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः, स विशिष्यते ।७।

(तु-यः) परन्तु-जो (इन्द्रियाणि-मनसा-नियम्य)

इन्द्रियों को-मन से-रोक कर (कर्म-इन्द्रियैः-कर्म-योगम्) कर्म-इन्द्रियों से-कर्मयोग का (असक्तः) आसक्ति को छोड़ कर (आरभते) आरम्भ करता है। हे अर्जुन! 'कर्म का आरम्भ न करने वालों, और कर्म छोड़ने वालों से' (स-विशिष्यते) वह-बढ़ जाता है ।७।

नियतं कुरुकर्मत्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।८।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पंचमोऽध्यायः ।

(त्वम्-नियतम्-कर्म-कुरु) तू-नियत = 'यज्ञ, दान, तप और वर्ण तथा आश्रम के लिये विहित' कर्म-कर) (हि-अकर्मणः-कर्म-ज्यायः) क्योंकि-कर्मत्याग से-कर्म श्रेष्ठ है। (अकर्मणः) विना कर्म के (ते-शरीरयात्रा) तेरे-शरीर का-निर्वाह (अपि-न-प्रसिद्ध्येत्) भी-नहीं-सिद्ध होगा = चलेगा ।८।

श्रीमद्भगवद्गीता का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।
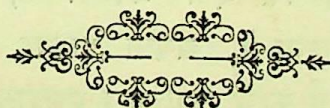
सार और संगति।

षष्ठ अध्याय।

यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता

पांचवें अध्याय में कर्म के त्याग को असम्भव बतलाते हुए आसक्ति छोड़ कर निष्काम कर्म करने की प्रेरणा की गई थी। इस पक्ष के विरोध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि कर्म के फल का त्याग भी तो सहसा होना कठिन है, इसके लिये भी कोई क्रम होना चाहिये। फल के सर्वथा त्याग से पहिले किसी ऐसे त्याग का सूत्रपात होना चाहिये, जिसमें कि कोई फल की मात्रा मिली हुई हो। इसी सम्भावित प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा है कि ऐसी अवस्था में, यज्ञ के लिये (परोपकार भावना से, अथवा परस्पर सहायता की भावना से) कर्म करने चाहियें। भगवान् ने प्रजा को

उत्पन्न करते हुए, सृष्टि के आरम्भ में ही, इस सहयोग के यज्ञ को जन्म दिया है। भगवान् की रचना में, पृथिवी, जल, अग्नि, सूर्य आदि सब ही देवता, एक दूसरे की सहायता करते हुए संसार की रचना में भाग ले रहे हैं। भगवान् के इस व्यावहारिक, तथा वेद के द्वारा वाचिक उपदेश के अनुसार, मनुष्य भी, यदि इन देवताओं की सहायता से मिली हुई, अन्न आदि सामग्री से इनकी शुद्धि, और अपने से निर्बल प्राणियों की सहायता करे तब तो ठीक है। और यदि वह ऐसा नहीं करता तो, नियम का भंग करने वाला है, पापी है, चोर है। यज्ञ से ही मेघ की और मेघ से अन्न आदि की उत्पत्ति होती है। और यज्ञ बिना कर्म के होता नहीं। इसलिये सर्वथा फल के त्याग में अशक्त पुरुष को यज्ञ के लिये कर्म करना चाहिये। इस कर्म से फल कामना की कुछ गन्ध तो अवश्य आ रही है। परन्तु मनुष्य को कर्म में लगाने का प्रधान कारण यहां लोकहित की भावना ही है। और यह भावना ही उसे एक दिन सर्वथा फल के त्याग का अधिकारी बना देगी। यह भावना भी कर्म बन्धन से छुड़ाने का साधन है।

षष्ठ अध्याय ।

कर्म योग ।

(यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय, मुक्तसंगः समाचर ।१।

(यज्ञ-अर्थात्) यज्ञ के-निमित्त = लोकहित की कामना से किये गये (कर्मणः-अन्यत्र) कर्म के बिना (अयम्-लोकः) यह-संसार = प्राणियों का समुदाय, (कर्म-बन्धनः) कर्मों से बांधा जाता है (कौन्तेय) हे कुन्तिपुत्र ! (तदर्थम्) उसके लिये=यज्ञ के लिये (मुक्तसङ्गः) आसक्ति छोड़ कर (कर्म-समाचर) कर्म कर ।१।

सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्व, मेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।२।

(पुरा) सृष्टि के आरम्भ में (प्रजापतिः) परमात्मा 'ने' (सह-यज्ञाः) २ यज्ञों के १ सहित) (प्रजाः-सृष्ट्वा)

प्रजा को-उत्पन्न करके (उवाच) कहा। (अनेन) इससे (प्रसविष्यध्वम्) बढ़ो। (एष) यह (वः-इष्ट-कामधुक्) तुम्हारी-वाञ्छित-कामनाओं का पूर्ण करने वाला (अस्तु) हो।२।

विशेष—भगवान् ने सृष्टि को "जीव मुक्ति के आनन्द की ओर आगे बढ़ें, और अपने कर्मों का फल प्राप्त कर सकें" इस, प्राणियों के हित की कामना से उत्पन्न किया है। और इस प्रकार की परोपकार की भावना को जन्म देना ही, सृष्टि के आरम्भ में एक प्रकार के यज्ञ की उत्पत्ति है। और इसीलिये लोकहित का सम्पादन करने वाले यज्ञ ही इस प्रकरण में यज्ञ के नाम से कहे गये हैं। सब प्राणियों के लिये हित कारक देव यज्ञ का इस प्रकरण में उदाहरण के रूप में दिखलाना भी इसी भाव को पुष्ट कर रहा है।

देवान्भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परमवाप्स्यथ।३।

(अनेन) इस = यज्ञ से (देवान्-भावयत) 'जल, वायु; अग्नि आदि' देवताओं का-संस्कार करो। (ते-देवाः) वे 'शुद्ध'-देवता (वः-भावयन्तु) तुम्हें-बढ़ावें। (परस्परम्-भावयन्तः) एक दूसरे की-शुद्धि तथा वृद्धि करते हुए (परम् श्रेयः) उत्तम-कल्याण को (अवाप्स्यथ) प्राप्त करोगे।३।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।४।

(यज्ञ-भाविताः) यज्ञ से-शुद्ध किये हुए (देवाः-वः-इष्टान्-भोगान्-दास्यन्ते) देवता-तुम्हें-प्रिय-भोग-देंगे। (तैः-दत्तान्) उनके-दिये हुओं को, (एभ्यः) उन्हें (अप्रदाय) 'यज्ञ के द्वारा' न देकर (यः-भुंक्ते) जो-खाता है। (सः-स्तेनः-एव) वह-चोर-ही है ।४।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ।५।

(यज्ञ-शिष्ट-अशिनः) यज्ञ से-बचे हुए को-खाने वाले (सन्तः) होते हुए, (सर्व-किल्विषैः) सब-पापों से (मुच्यन्ते) छूट जाते हैं। (ते-पापाः-तु) वे-पापी-तो अघम्-भुञ्जते) पाप-खाते हैं (ये-आत्म-कारणात्) जो-अपने 'ही' लिये (पचन्ति) पकाते हैं ।५।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।६।

(अन्नात्-भूतानि-भवन्ति) अन्न से-प्राणी-उत्पन्न होते हैं। (पर्जन्यात्-अन्न-सम्भवः) मेघ से-अन्न की उत्पत्ति

है। (यज्ञात्-पर्जन्यः-भवति) यज्ञ से-मेघ-होता है (यज्ञः-कर्म-समुद्भवः) और यज्ञ-कर्म से-सिद्ध होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म, नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।७।

(कर्म-ब्रह्म-उद्भवम्) कर्म को-वेद से-प्रकट होने वाला (विद्धि) जान। (ब्रह्म-अक्षर-समुद्भवम्) 'और' वेद-अविनाशी = परमात्मा से-प्रकट हुए हैं। (तस्मात्) इस लिये (सर्व-गतम्) सर्वत्र-होने वाला (ब्रह्म) वेद-ज्ञान यज्ञे-नित्यम्-प्रतिष्ठितम्) यज्ञ में-सदा-मान्य है 'वेद के विधान के अनुसार ही यज्ञ होने चाहिये' ।७।

एवं प्रवर्तितं चक्रं, नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो, मोघं पार्थ स जीवति ।८।

इति श्री भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः ।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (एवम्-प्रवर्तितम्-चक्रम्) इस प्रकार-चलाये हुए-चक्र को (यः-इह) जो-यहां (न-अनुवर्तयति) नहीं-चलाता है। (अघ-आयुः) पापमय-जीवनधारी (इन्द्रिय-आरामः) इन्द्रियों में रत, (सः मोघम्-जीवति) वह-व्यर्थ-जीता है।

यह श्री भगवद्गीता का छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति ।

सप्तम अध्याय ।

ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता ।

जो पुरुष फल का त्याग पूर्ण तया नहीं कर सकता, जो ज्ञानी नहीं उसके लिये लोक हित की कामना से कर्म करने का उपदेश, छठे अध्याय में किया गया। परन्तु जिसने आत्मा के स्वरूप को जान लिया, भगवान् के दर्शन कर लिये, अपने आप में प्रसन्न है; न उसका कोई कर्तव्य शेष रहा, और न किसी वस्तु के ग्रहण करने की उसे आवश्यकता है। क्या उस ज्ञानी को भी कर्म करने ही चाहियें?

इस प्रश्न के उत्तर में महाराज कहते हैं कि, हां अवश्य, उसे भी आसक्ति छोड़कर कर्म करने ही चाहियें। आसक्ति छोड़ कर किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। जनक जैसे ज्ञानियों ने जीवन मुक्त होने के

बाद भी कर्म को नहीं छोड़ा, और उनके मार्ग में कोई बाधा भी उपस्थित नहीं हुई।

ज्ञानी को तो अज्ञानियों को कर्म में लगाये रखने के लिये भी कर्म करने चाहियें। निष्काम कर्म करने से तो ज्ञानी की कोई हानि होती नहीं। परन्तु यदि वह कर्म छोड़ दे तो अज्ञानी भी उसे देखकर कर्म छोड़ देंगे, और वे कहीं के भी न रहेंगे। क्योंकि ज्ञान के न होने से कर्म के बिना सुमार्ग की ओर जाने का उनके लिये और कोई उपाय ही नहीं है। हां, यह अवश्य है कि अपने गुणों के अनुसार वे आसक्त होकर कर्म करेंगे। परन्तु करेंगे तो सही, कुकर्म या अकर्म में तो न फंसेंगे। शनैः शनैः उनके स्वभाव में कर्मों के द्वारा परिवर्तन लाने की आवश्यकता है उनसे कर्म छुड़ाने की नहीं। ज्ञानी भी तो स्वभाव बदलने के बाद ही कर्म से आसक्ति को दूर कर सका है। देखिये आपके सामने ही खड़ा हुआ मैं भी तो ज्ञानी होता हुआ भी आसक्ति छोड़कर कर्म कर ही रहा हूँ। अर्जुन अब तुम समझ गये होगे कि ज्ञानी के लिये भी कर्म की आवश्यकता है।
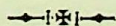
सप्तम अध्याय ।

कर्म योग ।
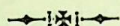
(ज्ञानी के लिये कर्म की आवश्यकता)

यस्त्वात्मरतिरेव स्या, दात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्ट, स्तस्य कार्यं न विद्यते ।१।

(तु-यः-मानवः) परन्तु-जो-मनुष्य (आत्म-रतिः) आत्मा में ही-आसक्त = अधिक राग रखने वाला, (आत्म-तृप्तः) आत्मा में ही-तृप्त (च-आत्म-तुष्टः) और-अपने आप में ही-प्रसन्न रहने वाला है । (तस्य-कार्यम्-न-विद्यते) उसका कर्तव्य शेष-नहीं-रहा ।१।

नैव तस्य कृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु, कश्चिदर्थऽव्यपाश्रयः ।२।

(इह-तस्य-कृतेन) यहां-उसके-कर्म से (न-एव-अकृतेन) 'और' न-ही-कर्म न करने से (कश्चन-अर्थः)

कोई-प्रयोजन है। (च-न-अस्य) और-न-इसका (सर्व-भूतेषु) सब-भूतों में (कश्चित्-अर्थ-व्यपाश्रयः) कोई-प्रयोजन का आधार है।२।

तस्मादसक्तः सततं, कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पूरुषः।३।

'क्योंकि ज्ञानी को प्रयोजन न होते हुए भी नियत कर्म करने ही चाहियें' (तस्मात्) इस लिये (असक्तः) आसक्ति छोड़कर (सततम्) निरन्तर (कार्यम्-कर्म-समाचर) कर्तव्य-कर्म का-अनुष्ठान कर। (हि-पुरुषः) (क्योंकि-पुरुष (असक्तः-कर्म-आचरन्) आसक्ति छोड़ कर कर्म-करता हुआ (परम्-आप्नोति) परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।३।

कर्मणैव हि संसिद्धि, मास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि, संपश्यन्कर्तुमर्हसि।४।

(हि-जनकादयः) क्योंकि-जनक आदि (कर्मणा-एव-संसिद्धिम्-आस्थिताः) कर्म से-ही-सिद्धि को-प्राप्त हुए हैं। 'इस लिये' (लोक-संग्रहम्) लोगों के साथ लेने को (सम्पश्यन्) ध्यान में रखते हुए भी (कर्तुम्-अर्हसि) 'कर्म' करना-योग्य है।४।

यद्यदाचरति श्रेष्ठ, स्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ।५।

(श्रेष्ठः-यत्-यत्-आचति) श्रेष्ठ 'पुरुष'-जो-जो-आचरण करता है, (इतरः-जनः-तत् तत्-एव) और लोग-वह-वह-ही 'आचरण करते हैं'। (स-यत्-प्रमाणम्-कुरुते) वह-जितना-करता है, (लोकः-तत्-अनुवर्तते) संसार-उसका-अनुसरण करता है ।५।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं, त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं, वर्त एव च कर्मणि ।६।

(पार्थ) हे पृथापुत्र! (मे-त्रिषु-लोकेषु) मेरा-तीनों-लोकों में (किञ्चन-कर्तव्यम्) कुछ-कर्तव्य (न-अस्ति) नहीं-है। (अनवाप्तम्) न प्राप्त हुआ (अवाप्तव्यम्) प्राप्त करने योग्य 'भी कुछ नहीं है'। (च-कर्मणि) और-कर्म में (वर्ते-एव) लगा हुआ-ही 'हूं' ।६।

यदि ह्यहं न वर्तेयं, जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।७।

(यदि-जातु) जो-कभी (अहम्-अतन्द्रितः) मैं-आलस्य छोड़कर (कर्मणि-न-वर्तेयम्) काम में-न-लगा

रहूँ, 'तो' (मनुष्याः-सर्वशः) मनुष्य-सारे (मम-वर्त्म-अनुवर्त्तन्ते) मेरे-मार्ग का- अनुसरण करते हैं ।७।

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्या, मुपहन्यामिमाः प्रजाः ।८।

(चेत्-अहम्-कर्म-न-कुर्याम्) यदि-मैं-कर्म-न-करूँ, 'तो' (इमे-लोकाः-उत्सीदेयुः) ये-लोग-उखड़ जावेंगे । 'ऐसी अवस्था में मैं' (संकरस्य-कर्ता-स्याम्) कर्म-संकर का-करने वाला-बनूंगा (च-इमाः-प्रजाः-उपहन्याम्) और-इन-प्रजाओं का-नाश करूँगा ।८।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्त, श्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।९।

(हे भारत) हे भरत सन्तान ! (यथा-कर्मणि-सक्ताः) जैसे-कर्म में-आसक्त हुए-हुए (अविद्वांसः) अज्ञानी लोग (कुर्वन्ति) 'कर्म' करते हैं, (विद्वान्) ज्ञानी (तथा-असक्तः) उसी प्रकार-राग छोड़कर (लोक-संग्रहम्-चिकीर्षुः) लोगों को-साथ लगाने की-इच्छा करता हुआ, (कुर्यात्) करे ।९।

न बुद्धिभेदं जनये, दज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि, विद्वान्युक्तः समाचरन् ।१०।

(विद्वान्) ज्ञानी 'पुरुष' (कर्मसंगिनाम्) 'राग से' कर्म में लगे हुए (अज्ञानाम्) अज्ञानियों का (बुद्धि-भेदम्) संशय (न-जनयेत्) न-उत्पन्न करे । 'परन्तु' (युक्तः) 'कर्म में' लगा हुआ (सर्व-कर्माणि) सब कर्म (जोषयेत्) प्रीति से कराए ।१०।

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते ।११।

(सर्वशः-कर्माणि) सब-कर्म (प्रकृतेः-गुणैः) स्वभाव के-गुणों से (क्रियमाणानि) किये जा रहे हैं, (अहंकार-विमूढ़-आत्मा) अहंकार से-भ्रान्त-आत्मा (अहम्-कर्ता) मैं-कर्ता हूं (इति-मन्यते) यह समझता है ।११।

तत्वावित्तु महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त, इति मत्वा न सज्जते ।१२।

(हे महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले = 'अर्जुन' (गुण-कर्म-विभागयोः) 'स्वभाव के' गुणों 'और'-कर्मों के-भेद के तत्व-वित्-तु) तत्व को-जानने वाला तो

(गुणाः) अन्तःकरण के 'सत्व, रज आदि' गुण (गुणेषु) 'प्रकृति के, सत्व, रज आदि' गुणों में (सज्जन्ते) लगे हुए हैं (इति-मत्वा) यह समझ कर (न-सज्जते) नहीं-आसक्त होता ।१२।

प्रकृतेर्गुणसंमूढा, सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्, कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

(प्रकृतेः) अन्तःकरण रूप प्रकृति के (गुण-सम्मूढाः) गुणों से-भ्रान्त हुए २ (गुण-कर्मसु) सत्वगुणी, रजोगुणी आदि कर्मों में, (सज्जन्ते) आसक्त होते हैं। (तान्-अकृत्स्न-विदः-मन्दान्) उन-थोड़ा जानने वाले-अज्ञानियों को (कृत्स्नवित्) सब कुछ जानने वाला (विचालयेत्-न) विचलित-न करे ।१३।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः, प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति ॥

(ज्ञानवान्-अपि) ज्ञानी भी (स्वस्याः-प्रकृतेः) अपने-स्वभाव के (सदृशम्-चेष्टते) अनुकूल-चेष्टा करता है। (भूतानि-प्रकृतिम्-यान्ति) प्राणी-स्वभाव के 'अनुकूल' चलते हैं। (निग्रहः-किम्-करिष्यति) दमन-क्या-करेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्, तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।१५।

(इन्द्रियस्य-इन्द्रियस्य) प्रत्येक इन्द्रिय के (अर्थे-राग-द्वेषौ) विषय में-राग 'और'-द्वेष (व्यवस्थितौ) निश्चित हैं। (तयोः-वशम्-न-आगच्छेत्) उनके-वश में-न-आवे (हि-तौ-अस्य-परिपन्थिनौ) क्योंकि-वे-ज्ञानी के-विरोधी हैं ।१५।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ।१६।

इति श्रीभगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः ।

(सु-अनुष्ठितात्) आसानी से-किये जाने वाले (पर-धर्मात्) दूसरे के-धर्म से, 'दूसरे के स्वभाव के अनुकूल और अपने स्वभाव के विपरीत कर्म से' (विगुणः-स्वधर्मः) थोड़ा किया हुआ-अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म (श्रेयः) श्रेष्ठ है (स्वधर्मे-निधनम्-श्रेयः) अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करते हुए-मर जाना-अच्छा है। 'अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुकूल कर्म करते हुए चाहे कितना भी संकट आवे पीछे न हटना चाहिये' (पर-

धर्मः-भयावहः) दूसरे के स्वभाव के अनुकूल कर्म-भयदाता है ।१६।

विशेष—हम ने यहां स्वधर्म का स्वभावानुकूल कर्म, अर्थ इस लिये किया है कि ऊपर के ग्यारहवें श्लोक से प्रकरण ही स्वभावानुकूल कर्म का चला हुआ है। अन्तःकरण में सत्व, रज, तम आदि गुणों में से किसी की न्यूनता या अधिकता का जैसा अनुपात हो जाता है, वैसा ही मनुष्य का स्वभाव हो जाता है। उसके अनुसार ही वह कर्म करता है। और उस स्वभाव को ही प्रकृति कहते हैं।

यह श्री भगवद्गीता का सातवां अध्याय समाप्त हुआ।
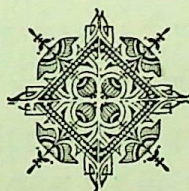
सार और संगति ।

अष्टम अध्याय ।

प्रवृत्ति का प्रधान कारण ।

सातवें अध्याय में महाराज ने प्रकृति (अन्तःकरण) के गुणों को मनुष्य की प्रवृत्ति में प्रधान कारण बतलाया था। इस अध्याय में अर्जुन ने उस गुण का नाम जानने की अभिलाषा प्रकट की है। उसने पूछा है कि, जो न चाहते हुए भी बलपूर्वक मनुष्य को पाप-कर्म में लगा देता है, वह गुण कौन है। महाराज ने उत्तर में उस गुण का नाम रजोगुण बतलाया है। और उसके भी काम और क्रोध नामक दो अङ्ग, प्रवृत्ति में प्रधान साधन बतलाये हैं। और इन दोनों में से भी काम को प्रधानता दी है। इसे महाराज ने कभी भी तृप्त न होने वाली अग्नि का नाम दिया है। और अन्त में इसी के छोड़ने का उपदेश भी दिया है।

अष्टम अध्याय ।

कर्म योग ।
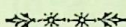
(प्रवृत्ति का प्रधान कारण)

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः ।१।

(वार्ष्णेय) हे वृष्णिसन्तान ! (अथ) अच्छा (अयम्-पूरुषः) यह-पुरुष (अनिच्छन्-अपि) न चाहता हुआ-भी (बलात्-नियोजितः-इव) बल से-लगाया हुआ जैसा (केन-प्रयुक्तः) किस से-प्रेरित हुआ (पापम्-चरति) पाप-करता है = सकाम कर्म में लगता है ।१।

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।२।

(रजोगुण-समुद्भवः) रजोगुण से-उत्पन्न हुआ (महाशनः) बहुत खाने वाला (महापाप्मा) बड़ा पापी (एष-कामः) यह-काम 'और' (एष-क्रोधः) यह-क्रोध

है। (इह) यहां = कार्यक्षेत्र में (एनम्) इसे (वैरिणम्) शत्रु (विद्धि) समझो ।२।

धूमेनाव्रियते वह्नि, र्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भ, स्तथा तेनेदमावृतम् ।३।

(यथा-धूमेन-वह्निः) जैसे-धूएं से-अग्नि (च-मलेन-आदर्शः) और-मैल से-शीशा (आव्रियते) ढका जाता है। (तथा) वैसे 'ही' (तेन) उस से = काम और क्रोध से (इदम्) यह = ज्ञान (आवृतम्) ढका हुआ है ।३।

आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च ।४।

(कौन्तेय) हे कुन्तिपुत्र! (ज्ञानिनः-नित्य-वैरिणा) ज्ञानी के-सदा के-वैरी (एतेन-दुष्पूरेण) इस-पूर्ण-न होने वाले (कामरूपेण-अनलेन) कामरूप-अग्नि-से (ज्ञानम्-आवृतम्) ज्ञान ढका हुआ है ।४।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि, रस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।५।

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियें (मनः-बुद्धिः) मन 'और'

बुद्धि (अस्य-अधिष्ठानम्-उच्यते) इसका-आधार-कहे जाते हैं (एषः) यह (ज्ञानम्-आवृत्य) ज्ञान को-आच्छादित कर (एतैः) इनके द्वारा (देहिनम्) शरीर धारी को (विमोहयति) मोहता है ।५।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।६।

(भरत-ऋषभ) हे भरत- श्रेष्ठ ! (तस्मात्-त्वम्) इस लिये तुम (आदौ-इन्द्रियाणि-नियम्य) पहिले-इन्द्रियों को-रोक कर (ज्ञान-विज्ञान-नाशनम्) ज्ञान 'और' विज्ञान का-नाश करनेवाले (एनम् पाप्मानम् इस=काम-पापी को (प्रजहि) मार ।६।

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।७।

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (पराणि) पर-परे= सूक्ष्म (आहुः) कहा है । (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (मनः-परम्) मन-परे है (तु-मनसः-बुद्धिः-परा) और मन से-बुद्धि-पर है (यः-बुद्धेः-परतः) जो-बुद्धि से-परे है (तु-सः) 'वह'-ही-वह है = आत्मा है ।७।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा, संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो, कामरूपं दुरासदम् ।८।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां अष्टमोऽध्यायः ।

(एवम्) इस प्रकार (बुद्धेः-परम्-बुद्ध्वा) बुद्धि से-सूक्ष्म को-जानकर (आत्मानम्-आत्मना-संस्तभ्य) अपने आपको- अपने आपसे-संभाल कर (महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले 'अर्जुन' (कामरूपम्-दुरासदम्-शत्रुम्-जहि) काम रूप-पराजित न होने वाले-शत्रु को-मार ।८।

यह श्रीभगवद्गीता का आठवां अध्याय समाप्त हुआ।
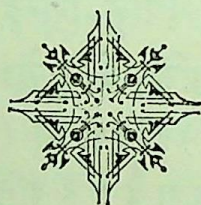
सार और संगति।

नवम अध्याय।

कर्म-संन्यास का साधन कर्म।

पांचवें अध्याय में महाराज ने कर्म के संन्यास को अशक्य वतलाया था। और इस से आगे के तीन अध्यायों में कर्म की आवश्यकता पर बल देते हुए, अर्जुन के प्रश्न करने पर कर्म में प्रवृत्ति के प्रधान कारण का निर्देश किया गया है। अब प्रश्न यह उपस्थित है कि यदि कर्म के त्याग की विधि से कर्म-संन्यास नहीं हो सकता तो क्या इसका कोई और भी उपाय है? बस इसी प्रश्न का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है।

महाराज ने कहा कि कर्म और अकर्म (कर्म-संन्यास) का विषय इतना एक दूसरे से मिला हुआ है, कि इसके भेद को समझना ही कठिन है। और सच तो यह है कि

कर्म स्वयं ही कर्म-संन्यास का रूप धारण कर लेता है। परन्तु तब जब कि उससे फल की कामना और उसके सङ्कल्प तक को पृथक् कर दिया गया हो। कर्म की यह विधि ही कर्म-संन्यास का उत्तम उपाय है। इस विधि का अनुष्ठान, कर्म के बीज को जला देता है, उसे फल देने के अयोग्य बना देता है। और इसी लिये यह कर्म विद्यमान होता हुआ भी अकर्म बन जाता है। इस विधि में यह लाभ है कि शारीरिक कर्म को छोड़ कर उसी प्रकार के भावों को मन से चिन्तन करते रहने का पाप नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त यज्ञ (लोक-हित की कामना) से किया हुआ कर्म भी अकर्म बन जाता है। क्योंकि यहां भी कर्ता उस कर्म से अपने लिये किसी फल की कामना नहीं करता।

नवम अध्याय।

कर्म योग।
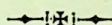
(कर्म-संन्यास का साधन कर्म)

किं कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।१।

(कर्म-किम्) कर्म योग-क्या है (अकर्म-किम्) कर्म-संन्यास-क्या है, (अत्र) इस विषय में (कवयः-अपि) विद्वान्-भी (मोहिताः) भ्रान्त हैं। (तत्-कर्म-ते-प्रवक्ष्यामि) वह-कर्म-तुम्हें-बतलाऊंगा (यत्-ज्ञात्वा) जिसे-जान कर (अशुभात्-मोक्ष्यसे) पाप से-छूट जाओगे ।१।

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणोगतिः ।२।

(हि-कर्मणः-अपि-बोद्धव्यम्) निःसन्देह-कर्म योग का 'सार'-भी जानना चाहिये (विकर्मणः-च-बोद्धव्यम्)

विरुद्ध कर्म = शास्त्र के तथा प्रकृति के विपरीत कर्म का भी 'सार' जानना चाहिये। (च-अकर्मणः-अपि-बोद्धव्यम्) और-कर्म संन्यास का-भी 'सार' जानना चाहिये (कर्मणः-गतिः-गहना) कर्म का-ज्ञान-गम्भीर है।२।

कर्मण्यकर्म यः पश्येद कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।३।

(यः-कर्मणि-अकर्म) जो-कर्म योग में-कर्म संन्यास को (च-अकर्मणि-कर्म) और कर्म संन्यास में-कर्म योग को (पश्येत्) देखता है। (मनुष्येषु-स-युक्तः) मनुष्यों में-वह-योगी (स-बुद्धिमान्-च-स-कर्मकृत्) वह-बुद्धिमान्-और-वह-कर्म करने वाला है।३।

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः।४।

(यस्य-सर्वे-समारम्भाः) जिसके-सारे-उद्योग (काम-संकल्प-वर्जिताः) फल की, कामना के-संकल्प से-रहित हैं। (बुधाः) विद्वान् (तम्) उसे (ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणम्) १ ज्ञान की २ अग्नि से-४ कर्म को-३ जलाने वाला (पण्डितम्-आहुः) पण्डित कहते हैं।४।

त्यक्त्वा कर्म फलासङ्गं, नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, नैवकिंचित्करोति सः ।५।

(कर्म-फल-आसंगम्) 'जो' कर्म-फल में-आसक्ति को (त्यक्त्वा) छोड़कर (नित्य-तृप्तः) सदा-प्रसन्न (निराश्रयः) 'कामना के' आश्रय से रहित 'है' । (सः-कर्मणि-अभिप्रवृत्तः-अपि) वह कर्म में- सर्वथा लगा हुआ भी (किंचित्-न-एव-करोति) कुछ-नहीं-करता है । 'उसका कर्म, अकर्म है' कर्म संन्यास है ।५।

निराशीर्यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।६।

(निर्-आशीः) २ फल की प्रार्थना को-१ छोड़ने वाला (यत-चित्त-आत्मा) २ चित्त 'और' ३ आत्मा को-१ रोकने वाला (त्यक्त-सर्व-परिग्रहः) २ सब-३ सम्बन्धों को-१ त्यागने वाला 'मनुष्य' (केवलं-शारीरम्-कर्म-कुर्वन्) केवल-शारीरक-कर्म-करता हुआ (किल्विषम्-न-आप्नोति) पाप को नहीं-प्राप्त होता ।६।

यदृच्छालाभसंतुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ।७।

(यदृच्छा-लाभ-संतुष्टः) यथा प्राप्त-लाभ से-प्रसन्न (द्वन्द्व-अतीतः) 'हर्ष-शोक, धूप-शीत' आदि द्वन्द्वों से पार, (विमत्सरः) डाह से रहित (सिद्धौ-च-असिद्धौ-समः) सिद्धि-और-आसिद्धि में-समान 'पुरुष' (कृत्वा-अपि) करके भी (न- निबध्यते) नहीं-बांधा जाता ।७।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते ।८।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः ।

(गत-संगस्य) २ आसक्ति से-१ रहित (ज्ञान-अव-स्थित-चेतसः) ज्ञान में-स्थिर-चित्त वाले (यज्ञाय-आच-रतः) यज्ञ = लोक हित के लिये-अनुष्ठान करने वाले (मुक्तस्य) बन्धन से-रहित 'पुरुष' का (समग्रम्-कर्म) सारा-कर्म (प्रविलीयते) विलीन होजाता है = फल देने के योग्य नहीं रहता ।८।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का नवां अध्याय समाप्त हुआ ।
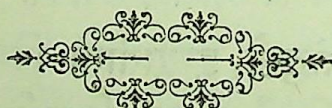
सार और संगति।

दशम अध्याय।

यज्ञ और ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता।

छठे अध्याय में यज्ञ के लिये कर्म की आवश्यकता बतलाई गई थी। प्रसंग से नवें अध्याय के अन्त में भी उसकी चर्चा की गई है। इस अध्याय में यज्ञों के भेद बतलाते हुए उन सब में से ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है। द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, योग यज्ञ और ज्ञान यज्ञ इन चार भागों में यहां यज्ञ को विभक्त किया गया है। कर्म काण्ड सारा ही द्रव्य यज्ञ में आगया है। ब्रह्म की उपासना और इन्द्रियों के संयम को तप यज्ञ का नाम दिया गया है। प्राणायाम, नियत आहार आदि, योग की क्रियाओं को योग यज्ञ कहा गया है। सब संशयों

को मिटाकर बुद्धि को किसी एक निर्णय पर स्थिर करना ज्ञान यज्ञ है। यह ज्ञान यदि श्रद्धा देवी के गर्भ से उत्पन्न हो तो मनुष्य तत्काल ही अपने ध्येय तक पहुँच जाता है। ज्ञान के बिना यह लोक और परलोक कोई भी सिद्ध नहीं होता। यदि कर्म योग के साथ संशय को काटने वाला ज्ञान भी मिल जावे तो सोने में सुगन्ध समझो। इस प्रकार ज्ञान की महिमा का गान कर, संशय का संहार कर, अर्जुन को संग्राम रूप कर्म योग में लग जाने की महाराज ने प्रेरणा की है।
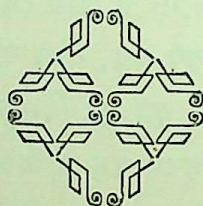
दशम अध्याय।

कर्म योग।

(यज्ञ और ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता)

दैवमेवापरे यज्ञं, योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं, यज्ञेनैवोपजुह्वति ।१।

(अपरे-योगिनः) कोई योगी (दैवम्-यज्ञम्-एव) अग्नि वायु आदि देवताओं के निमित्त (द्रव्य) यज्ञ की-ही (उपासते) उपासना करते हैं = अनुष्ठान करते हैं। (अपरे-ब्रह्म-अग्नौ) दूसरे-ब्रह्मरूप-अग्नि में (यज्ञम्) यज्ञ का = अपने आत्मा, मन, बुद्धि आदि ज्ञान यज्ञ की सामग्री का (यज्ञेन-एव) यज्ञ से = धारणा, ध्यान समाधि क्रियाओं से-ही (उपजुह्वति) होम करते हैं ।१।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये, संयमाग्निषुजुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य, इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।२।

(अन्ये) कोई (श्रोत्र-आदीनि-इन्द्रियाणि) श्रोत्र-आदि-इन्द्रियों को (संयम-अग्निषु) संयम रूपी अग्नियों में (जुह्वति) होम करते हैं। (अन्ये) दूसरे (शब्द-आदीन्-विषयान्) शब्द आदि विषयों को = विषय वासनाओं को (इन्द्रिय-अग्निषु) इन्द्रिय रूपी अग्नियों में (जुह्वति) आहुति डालते हैं।२।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ, जुह्वति ज्ञानदीपिते।३।

(अपरे) दूसरे लोग (सर्वाणि-इन्द्रिय-कर्माणि) सब-इन्द्रियों के-कर्मों को (च-प्राण-कर्माणि) और-प्राण-की क्रियाओं को (ज्ञान-दीपिते) ज्ञान से-प्रकाशित हुए (आत्म-संयम-योग-अग्नौ) आत्मा के-संयम रूपी-योग की अग्नि में (जुह्वति) आहुति डालते हैं।३।

अपाने जुह्वति प्राणं, प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः।४।

(अपरे) अन्य (प्राण-अपान-गती-रुद्ध्वा) प्राण 'और' अपान की-गतियों को-रोक कर (प्राणायाम-परायणाः) प्राणायाम में-तत्पर (अपाने-प्राणम्) अपान-

वायु में-प्राण की, (तथा-प्राणे-अपानम्) 'और' ऐसे ही-प्राण में-अपान की (जुह्वति) आहुति डालते हैं ।४।

अपरे नियताहाराः, प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ।५।

(नियत-आहाराः) नियमित-भोजन करने वाले (अपरे) अन्य (प्राणान्-प्राणेषु-जुह्वति) प्राणों की-प्राणों में-आहुति डालते हैं । (एते-सर्वे-अपि) ये-सब-ही (यज्ञ-विदः) यज्ञ के-जानने वाले (यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः) १ यज्ञ से ३ पाप को २ दूर करने वाले हैं ।५।

विशेष—अपान में प्राण की और प्राण में अपान की आहुति इस प्रकार डाली जाती है—

मनुष्य जब प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करता है तो उसे दो उपायों का अनुष्ठान करना पड़ता है। उन में से प्राण का अपान के साथ मेल करना एक उपाय है। और अपान का प्राण के साथ मेल करना दूसरा उपाय है। सामान्य दृष्टि से जिस श्वास को हम अन्दर से बाहर निकालते हैं उसे अपान कहते हैं और जिसे बाहर से अन्दर ले जाते हैं उसे प्राण कहते हैं। यद्यपि जो श्वास बाहर निकालते हैं था तो वह भी पहिले प्राण ही, उसे भी बाहर से ही अन्दर पहुंचाया गया था। परन्तु अब वह प्राण नहीं

रहा अपान हो गया है। पहिले अन्दर लेजाने के योग्य होने से प्राण था, और अब बाहर निकालने के योग्य हो जाने से अपान हो गया है। जब उसे अन्दर लेगये थे उस में अनेक गुण थे। इस लिये प्राण था=खाने के योग्य था। और अब उस में अनेक दोष पैदा हो गये हैं, इस लिये अपान है=बाहर निकालने के योग्य हो गया है। श्वास को बाहर से लेकर अन्दर फेंफड़े में डाला गया था, और फेंफड़े में रक्त के दोषों को लेकर वह दूषित हो गया है, इसी लिये वह अपान बन गया है। इस अपान को बाहर निकालते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि फेंफड़े में भरा हुआ सारा ही श्वास बाहर निकल आवे। और यदि फेंफड़े के किसी कोने में इस प्रकार का दूषित वायु देर तक पड़ा रह गया तो वह फेंफड़े को दूषित कर देगा।

इस लिये प्राण की अपान में आहुति डालने का यहां विधान है। बाहर से प्राण को अधिक मात्रा में लेकर फेंफड़े में भर दिया जाता है। यह क्रिया शनैः शनैः की जाती है, शनैः शनैः इस लिये की जाती है कि कहीं सहसा प्राण के अन्दर ले जाने से किसी प्राण-तन्तु पर अधिक दबाव पहुँच कर हानि न हो। अधिक मात्रा में अन्दर गया हुआ प्राण फेंफड़े के प्रत्येक अङ्ग में भर जाता है। जो अपान फेंफड़े के किसी स्थान में शेष था, उसके अन्दर भी यह प्राण प्रवेश कर जाता है। यह ही अपान में प्राण की आहुति है। इसे देर तक ठहराया जाता है। देर तक ठहराने के दो लाभ

हैं। एक यह कि वह प्राण अन्दर ठहरे हुए अपान को सर्वथा अपने साथ मिलाले, यहां तक कि उसके सम्बन्ध से फेंफड़े का भी कोई अंश यदि दूषित हो गया तो उसे भी यह प्राण शुद्ध कर दें। और दूसरा फल यह है कि प्राण के फेंफड़े में देर तक भरे रहने से उसके आकर्षण से, शरीर के सब स्थानों में फैला हुआ प्राण भी हृदय की तरफ़ चलना आरम्भ कर देगा। और इस प्रकार प्राण के एक स्थान में स्थिर होने से मन में भी एकाग्रता उत्पन्न होगी।

प्राण में अपान की आहुति डालना प्राणायाम का दूसरा प्रकार है। बाहर का सब वायु प्राण ही है फेंफड़े में से सारे ही अपान को बाहर निकाल दिया जाता है। उसकी बाहर के प्राण में आहुति डाल दी जाती है। और फिर उसी अवस्था में देर तक ठहर जाना पड़ता है। इस प्राणायाम का लाभ यह है कि फेंफड़े में से सारे अपान के बाहर निकल जाने पर, शरीर में प्राणतन्तुओं के द्वारा फैला हुआ प्राण शनैः २ तन्तुओं के द्वारा हृदय की तरफ़ चलना आरम्भ कर देता है। उद्देश्य यह ही मन की एकाग्रता है।

प्राणों में प्राणों की आहुति डालना तीसरा प्राणायाम है। इस प्राणायाम में, न प्राण की अपान में और न अपान की प्राण में आहुति डाली जाती है। किन्तु प्राण जिस अवस्था में है उसी अवस्था में उसे रोक दिया जाता है।

इस लिये यह प्राण में ही प्राण की आहुति है। लाभ इस प्राणायाम के भी पूर्वोक्त ही हैं।

यह प्राणायाम का एक प्रकार है। दूसरे प्रकार का प्राणायाम ध्यानयोग के द्वारा भी किया जाता है।

इस विधि के अनुसार गीता के इन श्लोकों का भाव नीचे लिखा जाता है। इस विधि में हृदय से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के सब प्राण का नाम प्राण है। और हृदय से नीचे के भाग से लेकर पैरों तक के सब प्राण का नाम अपान है। इस विधि में मन को भृकुटि के बीच में, या ब्रह्मरन्ध्र में एकाग्र किया जाता है=मन से सब वृत्तियों को हटाते हुए उसे इनमें से किसी एक स्थान में लगाया जाता है। प्राण स्वभाव से जिधर मन जाता है चलना आरम्भ कर देता है। मन के मस्तिष्क के किसी एक भाग में एकाग्र होने पर हृदय नीचे का और ऊपर का भी प्राण मस्तिष्क की तरफ़ चलाना आरम्भ कर देता है। नीचे के प्राण का जब हृदय के प्राण में आकर मेल होता है तब ही इनमें से एक दूसरे की एक दूसरे में आहुति पड़ती है, प्राण की अपान में और अपान की प्राण में। और हृदय से ऊपर के भाग का प्राण जो मस्तिष्क के प्राण से जाकर मिलता है, यह ही प्राण की प्राण में आहुति है, मस्तिष्क में जाकर प्राण और अपान की एकता हो जाने पर ही समाधि होती है।

प्रत्येक प्राणायाम में भोजन नियत होना चाहिये। आहार थोड़ा भी हो, और खुश्क तथा चटपटे मसाले

बीच में न हों घी की मात्रा भी अधिक हो। परन्तु जितना नित्य का नियम है उससे अधिक भोजन कभी न हो।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः।६।

'ऊपर कहे गए' (संशित-व्रताः) प्रशंसनीय-व्रत वाले (यतयः) यति लोग 'जो दैव यज्ञ करने वाले हैं, वे' (द्रव्य-यज्ञाः) द्रव्य से-यज्ञ करते हैं। 'जो ब्रह्म की अग्नि में आत्मा की और संयम की अग्नि में इन्द्रियों की आहुति डालते हैं, वे' (तपो-यज्ञाः) तप-यज्ञ करते हैं। 'जो प्राण की अपान में, अपान की प्राण में और प्राण की प्राण में आहुति डालते हैं, वे' (योग-यज्ञाः) 'इन्द्रियों की वृत्ति तथा प्राण के निरोध रूप' योग यज्ञ करने वाले हैं। और जो सब इन्द्रियों और प्राण के कर्मों की ज्ञान में आहुति डालते हैं, अर्थात् अनासक्ति और निष्काम कर्म के तत्व को भली भांति जान कर इन्द्रियों की और प्राण की क्रिया करते हैं, वे' (स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाः) 'धर्म और नीति के' स्वाध्याय द्वारा-ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं।६।

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।७।

(यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः) यज्ञ के-शेष रूप-अमृत को खाने वाले, (सनातनम्-ब्रह्म-यान्ति) अनादि-ब्रह्म को-प्राप्त होते हैं। (कुरुसत्तम) हे कुरुश्रेष्ठ ! (अयज्ञस्य) यज्ञ न करने वाले का (अयम्-लोकः-न-अस्ति) यह-लोक 'भी'-नहीं बनता (अन्यः-कुतः) परलोक-कहां से 'बनेगा' ।७।

एवं बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वा, नेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।८।

(एवम्) इस प्रकार (ब्रह्मणः-मुखे) वेद के-वचनों द्वारा (बहु-विधाः) अनेक-प्रकार के (यज्ञाः-विततः) यज्ञ-फैले हैं। (तान्-सर्वान्-कर्मजान्-विद्धि) उन-सब को कर्म से होने वाले-जानो । (एवम्-ज्ञात्वा-विमोक्ष्यसे) ऐसे-जान कर-छूट जाओगे ।८।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञा, ज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ।६।

(परन्तप) हे शत्रु को तपाने वाले = अर्जुन ! (द्रव्य-मयात्-यज्ञात्) द्रव्य से होने वाले-यज्ञ से (ज्ञान-ज्ञयः-श्रेयान्) ज्ञान-यज्ञ-श्रेष्ठ है। (पार्थ) हे पृथापुत्र !

(सर्वम्-अखिलम्-कर्म) पूर्ण 'और' सारे-कर्म (ज्ञाने-परिसमाप्यते) ज्ञान होने पर-पूर्ण होते हैं ।९।

नहिज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।१०।

(ज्ञानेन-सदृशम्) ज्ञान-जैसा (पवित्रम्) शुद्ध (इह-नहि-विद्यते) इस लोक में-नहीं-है, (तत्-योग-संसिद्धः) उसे योग से-सिद्ध हुआ 'पुरुष' (स्वयम्-कालेन-आत्मनि-विन्दति) आप ही-समय पाकर-आत्मा में-प्राप्त कर लेता है ।१०।

श्रद्धावाँल्लभतेज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति, मचिरेणाधिगच्छति ॥

(श्रद्धावान्-संयत-इन्द्रियः) श्रद्धा से युक्त २ इन्द्रियों का १ संयम करने वाला (तत्परः) 'ज्ञान मार्ग में' तत्पर (ज्ञानम्-लभते) ज्ञान को प्राप्त करता है । (ज्ञानम्-लब्ध्वा) ज्ञान को-प्राप्त करके (अचिरेण-पराम्-शान्तिम्) शीघ्र ही-श्रेष्ठ-शान्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है ।११।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ॥

(अज्ञः-च-अश्रद्दधानः) अज्ञानी-और-श्रद्धा न रखने वाला (संशय-आत्मा) संदेह की मूर्ति, 'मनुष्य' (विनश्यति) नष्ट हो जाता है (संशय-आत्मनः) सान्दिग्ध 'मनुष्य' का (न-अयम्-लोकः) न-यह-लोक (न परः) न-परलोक 'और' (न-सुखम्-अस्ति) न-सुख-सिद्ध होता है ।१२।

योगसंन्यस्तकर्माणं, ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि, निबध्नन्ति धनंजय ।१३।

(योग-संन्यस्त-कर्माणम्) १ योग से = कर्म फल के त्याग से ३ कर्म का २ त्याग करनेवाले (ज्ञान-संच्छिन्न-संशयम्) १ ज्ञान से ३ संशय को २ काटने वाले (आत्मवन्तम्) आत्म ज्ञानी को (कर्माणि-न-निबध्नन्ति कर्म-नहीं-बांधते ।१३।

तस्मादज्ञानसंभूतं, हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योग, मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।१४।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः ।

(तस्मात्) इसलिये (अज्ञान-सम्भूतम्) अज्ञान-से-उत्पन्न हुए (हृत्स्थम्) हृदय में विद्यमान (एनम्-संशयम्) इस संशय को (ज्ञान-असिना-छित्वा) ज्ञान की-तलवार से-काट कर (योगम्-आतिष्ठ) योग का-आश्रय लो, (उत्तिष्ठ) 'और' उठो ।१४।

यह श्रीभगवद्गीता का दशवां अध्याय समाप्त हुआ।
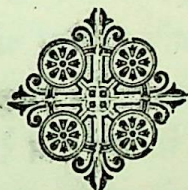
सार और संगति।

एकादश अध्याय।

कर्मसंन्यास से कर्मयोग की श्रेष्ठता।

दशवें अध्याय में महाराज ने, योग (कर्म-फल के संन्यास) को ही, कर्म-संन्यास का रूप दिया है। और इसीलिये अर्जुन ने इस अध्याय के आरम्भ में ही प्रश्न कर दिया, कि आप कर्मयोग और कर्म-संन्यास को मिलाकर उपदेश कर रहे हैं। परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है; जिससे कि मैं, इन दोनों में से जो श्रेष्ठ हो, उसका अनुष्ठान कर सकूं।

महाराज ने कहा, अर्जुन ! ये दोनों ही कल्याण-कारक हैं। परन्तु दोनों में श्रेष्ठ है कर्मयोग। यद्यपि फल की दृष्टि से सांख्य और योग समान ही हैं, इन में से एक को सिद्ध करने वाला, दोनों का फल प्राप्त कर लेता

है। परन्तु अनुष्ठान की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। कारण यह है कि फल की कामना को छोड़े बिना कर्म छूट नहीं सकते, और योगी के अनुष्ठान का इसी विधि से आरम्भ होता है। इसके विपरीत संन्यासी को पहिले ही कर्म का त्याग आरम्भ करना होगा। ऐसी अवस्था में कर्म छोड़ने पर भी मन में फल की कामना और संकल्प बने रहेंगे। और ये ही बन्धन के कारण हैं। और यदि संन्यासी भी पहिले फल की कामना और संकल्प का त्याग कर फिर कर्म का त्याग करेगा, तो पहिले कर्म योग का आरम्भ उसे भी करना ही पड़ा। और जब कि कर्म योग ही कर्मों को फल देने के योग्य नहीं छोड़ता, उन्हें नपुंसक बना देता है, तो फिर कर्म के त्याग की आवश्यकता ही क्या रही। इसलिये जो फल की कामना और संकल्प को छोड़कर कर्म करता है, वह ही संन्यासी है और वह ही योगी है, कर्म छोड़ने वाला नहीं।
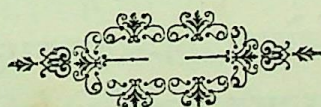
एकादश अध्याय ।

कर्म योग ।

(कर्म संन्यास से कर्म योग की श्रेष्ठता)

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण, पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं, तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।१।

अर्जुन ने कहा ।

हे कृष्ण ! (कर्मणाम्-संन्यासम्) कर्मों के-संन्यास (च-पुनः-योगम्-शंससि) और-फिर-योग 'दोनों' का-उपदेश करते हो । (एतयोः-यत्-एकम्-श्रेयः) इन में से-जो-एक-कल्याणकारक है (तत्-मे-सुनिश्चितम्) वह-मुझे-अच्छी तरह निश्चय करके (ब्रूहि) कहो ।१।

श्रीभगवान उवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासा, त्कर्मयोगो विशिष्यते ।२।

श्रीकृष्ण ने कहा।

(संन्यासः-च-कर्म योगः) संन्यास-और-कर्म योग (उभौ-निःश्रेयस-करौ) दोनों-कल्याण-कारक हैं। (तु-तयोः) परन्तु-उन दोनों में से (कर्म-संन्यासात्) कर्मों के त्याग से (कर्म-योगः) कर्म-योग (विशिष्यते) विशेष है = श्रेष्ठ है ।२।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी, यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो, सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।३।

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (यः-न-द्वेष्टि) जो-न-द्वेष करता है (न-कांक्षति) 'और' न-कामना करता है (सः-नित्य-संन्यासी) वह-सदा-संन्यासी (ज्ञेयः) समझना चाहिये। (निर्द्वन्द्वः) 'राग द्वेष आदि' द्वन्द्वों से रहित 'पुरुष' (बन्धात्) बन्धन से (सुखम्-प्रमुच्यते) आराम से-छूट जाता है ।३।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः, प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्य, गुभयोर्विन्दते फलम् ।४।

(सांख्य-योगौ) सांख्य 'और' योग को (बालाः) बालक = अज्ञानी (पृथक्-प्रवदन्ति) अलग २ कहते हैं

(पण्डिताः-न) पण्डित-नहीं (एकम्-अपि-सम्यक्-आस्थितः) एक पर-भी-भली भांति-आरूढ़ हुआ २ (उभयोः-फलम्-विन्दते) दोनों का फल-प्राप्त करता है।४।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्य च योगं च, यः पश्यति स पश्यति।५।

(यत्-स्थानम्) जो-स्थान (सांख्यैः-प्राप्यते) सांख्य वालों को = कर्मसंन्यासियों को-मिलता है। (तत्-योगैः-अपि-गम्यते) वह-योग वालों को-भी-प्राप्त होता है। (यः-सांख्यम्-च-योगम्) जो-सांख्य-और-योग को (एकम्-पश्यति) एक देखता है। (सः-पश्यति) वह-देखता है।५।

संन्यासस्तु महाबाहो, दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म, अचिरेणाधिगच्छति।६।

(महाबाहो) हे महाभुज ! = अर्जुन ! (अयोगतः) कर्म योग के बिना (संन्यासः-तु) संन्यास तो (आप्तुम्-दुःखम्) प्राप्त करना-कठिन है। (योग-युक्तः) कर्म योग में-लगा हुआ (मुनिः) यति (ब्रह्म-चिरेण-न) ब्रह्म को-देर से-नहीं = शीघ्र ही (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है।६।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ।७।

(विशुद्ध-आत्मा) शुद्ध-आत्मा वाला (जित-इन्द्रियः) २ इन्द्रियों को १ जीतने वाला (विजित-आत्मा) २ अपने आप पर १ विजय पाने वाला (सर्व-भूत-आत्म-भूत-आत्मा) सर्व-प्राणियों के-आत्मा के-समान-आत्मा वाला = अर्थात् जो सब की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है, (योग-युक्तः) कर्म योग में-लगा हुआ 'मनुष्य' (कुर्वन्-अपि) करता हुआ-भी (न-लिप्यते) नहीं-लिप्त होता ।७।

नैवकिंचित्करोमीति, युक्तोमन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्, अश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्, उन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन् ।८।

(पश्यन्) देखता हुआ (शृण्वन्-स्पृशन्) सुनता हुआ-छूता हुआ (जिघ्रन्-अश्नन्) सूंघता हुआ-खाता हुआ (गच्छन्-स्वपन्) चलता हुआ-सोता हुआ (श्वसन्-प्रलपन्) श्वास लेता हुआ-बोलता हुआ (विसृजन्-

गृह्णन्) मलमूत्र का त्याग करता हुआ-लेता हुआ (उन्मिषन्-निमिषन्) पलक खोलता हुआ-पलक बन्द करता हुआ, (तत्ववित्) तत्वज्ञानी (युक्तः) कर्मयोगी (इन्द्रियाणि इन्द्रिय-अर्थेषु-वर्तन्ते) इन्द्रियें-इन्द्रियों के-विषयों में-लगी हुई हैं (इति-धारयन्) यह-धारण करता हुआ 'मैं' (किञ्चित्-न-एव-करोमि) मैं-कुछ-नहीं-कर रहा हूं (इति-मन्येत) यह समझे ।८।९।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा ।१०।

(यः-संगम्-त्यक्त्वा) जो-आसक्ति-छोड़कर (ब्रह्मणि-आधाय) ब्रह्म के-अर्पण कर (कर्माणि-करोति) कर्म करता है । (सः-अम्भसा-पद्म-पत्रम्-इव) वह-जल से-कमल के-पत्ते की-तरह (पापेन-लिप्यते-न) पाप से-लिप्त-नहीं होता ।१०।

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति, सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।११।

(योगिनः) योगी लोग (संगम्-त्यक्त्वा) आसक्ति छोड़कर (आत्म-शुद्धये) आत्मा की-शुद्धि के लिये

(कायेन-मनसा-वाचा) शरीर से-मन से-वाणी से (केवलैः-इन्द्रियैः-अपि) 'और' केवल-इन्द्रियों से-भी (कर्म-कुर्वन्ति) कर्म-करते हैं ।११।

युक्तः कर्मफलंत्यक्त्वा, शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ।१२।

(युक्तः) कर्म योगी (कर्म-फलम्-त्यक्त्वा) कर्म-फल को-त्याग कर (नैष्ठिकीम्-शान्तिम्-आप्नोति) स्थिर शान्ति को-प्राप्त करता है । (अयुक्तः) 'कर्म में' न लगा हुआ = कर्म संन्यासी (काम-कारेण) कामनाओं के करने से (फले-सक्तः) फल में-आसक्त हुआ-हुआ (निब-ध्यते) बन्धन में पड़ता है ।

अनाश्रितः कर्मफलं, कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर्न चाक्रियः ।१३।

(यः-कर्म-फलम्-अनाश्रितः) जो-कर्मफल का-आश्रय न लेता हुआ (कार्यम्-कर्म-करोति) कर्तव्य-कर्म करता है । (संन्यासी-च) संन्यासी-और (योगी-च) योगी-भी (सः) वह 'है' (निरग्निः-च-अक्रियः) अग्नि होत्र न करनेवाला-और-कर्म-न करनेवाला (न) नहीं ।१३।

यं संन्यासमिति प्राहु, र्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो, योगी भवति कश्चन ।१४।

(पाण्डव) हे पाण्डु पुत्र ! (यम्-संन्यासम्-इति-प्राहुः) जिसे-संन्यास-इस नाम से-कहते हैं (तम्-योगम्-विद्धि) उसे-कर्म योग-समझो। (हि-असंन्यस्त-संकल्पः) १ क्योंकि-३ संकल्प का-२त्याग न करनेवाला (कश्चन-योगी-न-भवति) कोई-योगी-नहीं-होता। 'इसलिये फल संन्यास के कारण यह योगी भी संन्यासी ही हुआ' ।१४।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं, कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव, शमः कारणमुच्यते ।१५।

'फल की कामना न होने पर भी कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है' (योगम्-आरुरुक्षोः) कर्मयोग में-आरूढ़ होने की इच्छा वाले (मुनेः) यति को 'कर्म में लगाने का' कर्म-कारणम्-उच्यते) प्रवृत्ति = कर्म में आसक्ति-कारण-कही जाती है । 'क्योंकि वह चिरकाल से कर्म करने का अभ्यासी है, इसलिये फल की कामना न होने पर भी, उसकी वह पुरानी कर्म में आसक्ति, उससे कर्म कराती है, और' (योग-आरूढ़स्य) योग में-स्थिर

हुए-हुए की (तस्य-एव) उसकी ही (शमः) 'प्रज्ञा की स्थिति, और फल कामना के त्याग से प्राप्त हुई चित्त की' शान्ति 'कर्तव्य कर्म के कराने में' (कारणम्-उच्यते) साधन कही जाती है ।१५।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु, न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारूढस्तदोच्यते ।१६।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां एकादशोऽध्यायः ।

(हि-यदा) क्योंकि जब (न-इन्द्रिय-अर्थेषु) न इन्द्रियों के विषयों में 'और' (न-कर्मसु) न कर्मों में (अनुषज्यते) आसक्त होता है अर्थात् शान्ति प्राप्त होने पर कर्मों को भी आसक्ति से नहीं कर्तव्य समझ कर करता है, (तदा-योग-आरूढ़ः-उच्यते) तब-योग में-स्थित-कहा जाता है ।१६।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।
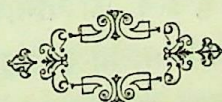
सार और संगति।

द्वादश अध्याय।

साम्यबुद्धि और उसका साधन ध्यानयोग।

ग्यारहवें अध्याय में कर्मयोग को कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ इस दृष्टि से बतलाया गया कि कर्मयोग का अनुष्ठान किये बिना कर्म-संन्यास हो नहीं सकता, और कर्म-योग की सिद्धि होने पर कर्म-संन्यास की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु कर्मयोग का अनुष्ठान भी तो टेढ़ी खीर है! बिना किसी फल की कामना के मनुष्य कार्य को आरम्भ ही कैसे कर सकेगा। बिना किसी प्रयोजन को सामने रक्खे तो उसका आगे बढ़ना ही असम्भव है। बस इसी प्रश्न का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है। निष्काम कर्म के अनुष्ठान की योग्यता प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिये। उसे कामना के कीचड़ से ऊँचा उठाने के लिये बुद्धि में समता के बल का विकास करना चाहिये। जो अपने

आपको अपने अधिकार में रखने का यत्न नहीं करता वह अपना शत्रु आप है। अपनी आत्मा को वश में करने के उपाय हैं—ज्ञान और विज्ञान तथा ध्यान योग से आत्मा में साम्यबुद्धि का उत्पन्न करना। ज्ञान और विज्ञान का निरूपण आगे चलकर किया जावेगा। और ध्यान योग की विधि इस अध्याय में बतलाई गई है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि योगी इस प्रकार अपने ऊपर अधिकार कर, ध्यान योग का अनुष्ठान करता हुआ साम्यबुद्धि को तो प्राप्त कर ही लेता है, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति भी उसे इसी साधन से हो जाती है। इस प्रकार फल की कामना के बिना कर्म में प्रवृत्ति का उपाय बतलाया गया, साम्यबुद्धि की प्राप्ति। और उसका भी साधन बतलाया गया ध्यान योग के द्वारा मन का निरोध। यह सुनकर अर्जुन ने फिर प्रश्न किया, कि महाराज मन तो बड़ा चञ्चल है। इसका निरोध तो वायु के निरोध से भी कठिन है। फिर ध्यान योग से इसका रोकना कैसे सम्भव हो सकेगा। इस प्रश्न के उत्तर में मन के रोकने का उपाय महाराज ने अभ्यास और वैराग्य के द्वारा आत्मा का संयम बतलाया। यह सुनकर अर्जुन

ने फिर प्रश्न किया कि महाराज ! श्रद्धा रखते हुए भी ध्यान योग के द्वारा साम्यबुद्धि को सम्पादन करता हुआ, जो मनुष्य कर्म योग के क्षेत्र में सफल हो गया, उसके तो आपके कथन के अनुसार यह लोक और पर-लोक दोनों उज्ज्वल बन ही जावेंगे । परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सब ही वहां तक पहुँच सकेंगे। ऐसी अवस्था में कृपया बतलाइये कि उन मध्यस्थ पुरुषों की क्या गति होगी। वे गरीब तो न इधर के रहे न उधर के ! अर्जुन ने अपनी निर्बलता को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न किया था। महाराज ने भी उसे इसका उत्साह जनक और यथार्थ उत्तर दिया । उन्होंने कहा कि संयम के मार्ग में खड़ा होकर जिसने पचास कोस की यात्रा में से एक कोस भी पार कर लिया है, वह दूसरे जन्म में पहिले कोस से नहीं दूसरे कोस से ही चलना आरम्भ करेगा उसका यह परिश्रम कभी भी निष्फल नहीं जा सकता । उसे दूसरे जन्म में साधन भी उसके इस भाव के अनुसार श्रेष्ठ ही मिलेंगे, और इसी क्रम से चलता हुआ आने वाले किसी जन्म में वह सफल अवश्य होगा। अन्त में महाराज ने ध्यान योगी की प्रशंसा करते हुए इस उत्तर को समाप्त किया है ।

द्वादश अध्याय ।

ध्यान योग ।
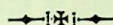
(साम्यबुद्धि और उसका साधन ध्यानयोग)

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु, रात्मैव रिपुरात्मनः ।१।

(आत्मना-आत्मानम्-उद्धरेत्) आत्मा से = आत्मिक बल से-आत्मा का उद्धार करे । (आत्मानम्-अवसादयेत्-न) आत्मा को नीचे न गिराए । (हि-आत्मनः-आत्मा-एव-बन्धुः) क्योंकि आत्मा का-आत्मा ही-बन्धु 'है' (आत्मनः-आत्मा-एव-रिपुः 'और' आत्मा का-आत्मा ही शत्रु है ।१।

विशेष—यहां आत्मा से आत्मा का उद्धार करना लिखा है । उद्धार करने का साधन अलग होता है, और जिसका उद्धार किया जावे वह वस्तु पृथक् होती है । परन्तु यहां दोनों की जगह आत्मा का ही नाम लिया गया है ।

यद्यपि शब्द एक ही है, परन्तु यहां भी उद्धार का साधन भिन्न ही वस्तु है। उद्धार जीव आत्मा का किया जाता है। और उद्धार का साधन, आत्मा, अन्तः करण और ज्ञान इन्द्रियें इन सब का मिला हुआ एक समुदाय है। अन्तः करण के दूषित होने पर ही आत्मा में दोष आते हैं, और उन दोषों को दूर करना ही आत्मा का उद्धार है। जब तक इन्द्रियों की क्रियाएं धर्म के अनुकूल न हों, और अन्तः करण के मल दूर न हों, आत्मा ऊंचा उठ नहीं सकता। इस लिये आत्मा के उद्धार में यह सारा का सारा समुदाय ही कारण है। इन सब के सुधार में भी आत्मा की सावधानता विशेष उपकारक है, इस लिये इस सारे उद्धारकों के समुदाय में भी आत्मा ही प्रधान है। और प्रधान होने के कारण यहां साधन पक्ष में भी आत्मा का ही नाम लिया गया है। इस समुदाय के दोषों से दूषित हो कर आत्मा, अपना आप ही शत्रु और उन दोषों से बच कर अपना आप ही मित्र हो जाता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।२।

(येन-आत्मा-आत्मना-एव-जितः) जिसने-आत्मा को-आत्मा से = आत्मिक बल से-ही-जीता है। (तस्य-आत्मनः-आत्मा-बन्धुः) उस-आत्मा का-आत्मा-मित्र है

(अनात्मनः) 'मन, इन्द्रिय आदि' अनात्माओं के (शत्रुत्वे) शत्रु होने पर 'वे नहीं, बल्कि' (आत्मा-एव-शत्रुवत्-वर्तेत) आत्माही-शत्रु की तरह-बरत रहा होता है ।२।

जितात्मनः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा मानापमानयोः ।३।

(जितात्मनः) आत्मा को जीतने वाले (प्रशा-न्तस्य) शान्ति शील 'पुरुष' का (परम-आत्मा (श्रेष्ठ-आत्मा (शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु) सर्दी-गर्मी-सुख'और' दुःख में (तथा-मान-अपमानयोः) इसी प्रकार-मान 'और' अपमान में (समाहितः) समदर्शी रहता है । 'इस प्रकार आत्मा के उद्धार से उसे साम्यबुद्धि की प्राप्ति हो जाती है' ।३।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्मकांचनः ।४।

(ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा) ज्ञान 'और' विज्ञान से-आत्मा को-तृप्त करने वाला (कूटस्थः) विकार से रहित (विजित-इन्द्रियः) २ इन्द्रियों को १ जीतने वाला

(सम-लोष्ट-अश्म-कांचनः-योगी) २ मिट्टी के ढेले-३ पत्थर 'और' ४ सोने में १ समान भाव रखने वाला-योगी (युक्त-इति-उच्यते) योग सम्पन्न कहा जाता है।४।

सुहृन्मित्रार्युदासीन, मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु, समबुद्धिर्विशिष्यते ।५।

(सुहृत् मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु) श्रेष्ठ हृदय वाला, मित्र-शत्रु-दो के झगड़े में उपेक्षा का भाव रखने वाला-झगड़े का निर्णय करने वाला-बुरा चाहने वाला-और हितैषी, इन सब में (साधुषु) सज्जनों में-(च-पापेषु-अपि) और पापियों में-भी (समबुद्धिः) समान बुद्धि रखने वाला (विशिष्यते) बढ़ जाता है।५।

योगी युञ्जीत सतत, मात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीर परिग्रहः ।६।

(एकाकी-रहसि-स्थितः) अकेला-एकान्त में-बैठा हुआ (यत-चित्त-आत्मा) २ चित्त-'और' ३ आत्मा का १ संयम करता हुआ (निर्-आशीः) २ इच्छाओं से-रहित (अपरिग्रहः) ममता को छोड़कर (योगी-सततम्-

आत्मानम्-युञ्जीत) योगी-निरन्तर-आत्मा को-ध्यान में लगावे ।६।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं, चैलाजिनकुशोत्तरम् ।७।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्या, द्योगमात्मविशुद्धये ।८।
समं कायशिरोग्रीवं, धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्चानवलोकयन् ।९।

(न-अति-उच्छ्रितम्) न-बहुत ऊँचे (न-अति-नीचम्) न-बहुत-नीचे (चैल-अजिन-कुश-उत्तरम्) कपड़े-मृगचर्म-'और' कुशाओं से-ढके हुए (आत्मनः-आसनम्) अपने आसन को (शुचौ-देशे-प्रतिष्ठाप्य) पवित्र-स्थान में-स्थिर करके (यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः) २ चित्त-और ३ इन्द्रियों की ४ क्रियाओं को १ रोकता हुआ (आसने-उपविश्य) आसन पर बैठकर (स्थिरः) निश्चल हुआ हुआ (काय-शिरः-ग्रीवम्) धड़-शिर 'और' गर्दन को (अचलम्-समम्-धारयन्) निश्चल-सीधे रखता हुआ (स्वम्-नासिका-अग्रम्-सम्प्रेक्ष्य) 'और' अपने-नासिका

के-अग्र भाग को-देखकर (दिशः-अनव-लोकयन्) दिशाओं को-न देखता हुआ (आत्म-विशुद्धये) आत्मा की-शुद्धि के लिये (योगम्-युंज्यात्) योग का अनुष्ठान करे ।७।८।९।

संकल्पप्रभवान्कामान्, त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं, विनियम्य समन्ततः ।१०।

(संकल्प-प्रभवान्) संकल्प से-उत्पन्न होने वाली (सर्वान्-कामान्) सब कामनाओं को (अशेषतः-त्यक्त्वा) सम्पूर्ण रूप से-छोड़ कर (इन्द्रिय-ग्रामम्) इन्द्रियों के झुण्ड को (मनसा-एव) मन से ही (समन्ततः-विनि-यम्य) सब ओर से-रोककर ।१०।

शनैः शनैरुपरमेद्, बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिदपिचिन्तयेत् ॥

धृति-गृहीतया) धैर्य से-स्थिर की हुई (बुद्ध्या) बुद्धि के द्वारा (मनः-आत्म-संस्थम्-कृत्वा) मन को-आत्मा में-स्थिर-करके (शनैः-शनैः-उपरमेत्) धीरे-धीरे-शान्त हो (किञ्चित्-अपि) कुछ-भी (न-चिन्तयेत्) चिन्तन न करे ।११।

यतो यतो निश्चरति, मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैत, दात्मन्येव वशं नयेत् ।१२।

(चञ्चलम्) चलायमान 'इसीलिये' (अस्थिरम्) न टिकने वाला (मनः-यतः-यतः-निश्चरति) मन-जिधर-जिधर से-निकलता हो (ततः-ततः-उधर-उधर से (एतत्-नियम्य) इसे रोक कर (आत्मनि-एव) आत्मा में-ही वशम्-नयेत्) वश में-लावे ।१२।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं, योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श, मत्यन्तं सुखमश्नुते ।१३।

'ध्यान योग का पहिला फल'—

(विगत-कल्मषः) २ पाप से-१ रहित (योगी-एवम्-आत्मानम्) योगी-इस प्रकार-आत्मा को (युञ्जन्) 'योग में' लगाता हुआ (सुखेन) आसानी से (ब्रह्म-संस्पर्शम्) ब्रह्म के-सम्बन्ध से होनेवाले(अत्यन्तम्-सुखम्) अत्यन्त सुख को = मोक्ष को (अश्नुते) भोगता है ।१३।

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानिचात्मानि ।
ईक्षते योग युक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ।१४।

'ध्यान योग का दूसरा फल'—

(योग-युक्त-आत्मा) योग से-सम्पन्न-आत्मा 'वाला पुरुष' (सर्वत्र-सम-दर्शनः) सब में-समदर्शी होता हुआ (आत्मानम्-सर्व-भूतस्थम्) अपने आपको-सब भूतों में (च-सर्व-भूतानि) और सब को (आत्मनि) अपने अन्दर (ईक्षते) देखता है ।१४।

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ।१५।

हे अर्जुन ! (यः) जो (आत्म-औपम्येन) अपने समान (सर्वत्र) सब जगह (सुखम्-यदि-वा-दुःखम्) सुख-या दुःख को (समम्-पश्यति) बराबर देखता है (सः) वह (परमः-योगी-मतः) उत्तम-योगी-माना गया है ।१५।

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः, साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि, चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥

अर्जुन ने कहा ।

(मधु-सूदन) हे मधु का-नाश करने वाले (त्वया)

तूने (यः-अयम्-योगः) जो-यह-योग (साम्येन-प्रोक्तः) साम्य बुद्धि के लिये-कहा है (अहम्) (चञ्चलत्वात्) 'मनके' चञ्चल होने के कारण (एतस्य) इस योग की (स्थितिम्) अवस्था को (स्थिराम्-न-मन्ये) ठहरने वाली नहीं-समझता ।३३।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ।३४।

हे कृष्ण (मनः-चञ्चलम्-प्रमाथि-बलवत्-दृढम्) मन-चञ्चल-सताने वाला-बलवान् 'और' दृढ़ है । (तस्य) उसका (निग्रहम्) दमन (अहम्) मैं (वायोः-अपि) वायु से-भी (सुदुष्करम्) बहुत-कठिन (मन्ये) समझता हूं ।३४।

श्रीभगवान उवाच ।

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।३५।

श्री कृष्ण ने कहा ।

(महाबाहो-कौन्तेय !) हे बड़ी भुजाओं वाले-कुन्ति पुत्र ! (असंशयम्) निश्चय ही (मनः) मन (दुर्निग्रहम्)

कठिनता से वश में आने वाला 'और' (चलम्) चञ्चल है । (तु) परन्तु (अभ्यासेन) अभ्यास से (च-वैराग्येन) और-वैराग्य से (गृह्यते) वश में आता है ।१८।

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

(असंयत-आत्मना) संयम से रहित-आत्मा वाले को (योगः-दुष्प्रापः) योग-कठिनता से प्राप्त होता है (इति-मे-मतिः) यह-मेरा-विचार है । (तु-यतता) परन्तु-यत्न करने वाले (वशी-आत्मना) संयमी-आत्मा को (उपायतः) यत्न से (प्राप्तुम्-शक्यः) प्राप्त हो सकता है ।१६।

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगाच्चालितमानसः ।
अप्राप्य योग संसिद्धिं, कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

अर्जुन ने कहा ।

हे कृष्ण ! (अयतिः) आत्मा का संयम न करने वाला, (योगात्-चलित-मानसः) योग से-डिगे हुए-चित्त वाला, 'परन्तु' (श्रद्धया-उपेतः) श्रद्धा से युक्त

'पुरुष' (काम्-गतिम्-गच्छति) किस-गति को-प्राप्त होता है ।२०।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट, श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढो ब्रह्मणः पथि ।२१।

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओंवाले ! (विमूढः) 'वह' भ्रान्त (ब्रह्मणः-पथि) ब्रह्म के-मार्ग में (अप्रतिष्ठः) स्थिर न हुआ हुआ (उभय-विभ्रष्टः) 'संसार और परलोक' दोनों ओर से-पतित हुआ-हुआ (छिन्न-अभ्रम्-इव) फटे-मेघ की-तरह (न-नश्यति) नष्ट तो नहीं हो जाता ।२१।

एतन्मे संशयं कृष्ण, छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य, छेत्ता न ह्युपपद्यते ।२२।

हे कृष्ण ! (मे-एतत्-संशयम्) मेरे-इस-संशय को (अशेषतः-छेत्तुम्-अर्हसि) पूर्ण रूप से-दूर करने के-तुम योग्य हो । (त्वत्-अन्यः) तुमसे-दूसरा (अस्य-संशयस्य) इस-संशय का (छेत्ता) दूर करने वाला (न-हि-उपपद्यते) सम्भव नहीं है ।२२।

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्, दुर्गतिं तात गच्छति ॥

श्री भगवान् बोले ।

(पार्थ !) हे पृथापुत्र ! (तस्य) उसका (न-इह) न यहां 'और' (न-एव-अमुत्र) न-ही-परलोक में-(विनाशः-विद्यते) नाश-होता है । (तात !) हे प्रिय बन्धु ! (कश्चित्-कल्याणकृत्) कोई-शुभ कर्म-करनेवाला दुर्गतिम्) बुरी गति को (न-गच्छति) नहीं-प्राप्त होता ।२३।

प्राप्य पुण्यकृतां लोका, नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते ।२४।

(योग-भ्रष्टः) योग से-पतित = योग में अपूर्ण 'मनुष्य' (पुण्य-कृताम्) पुण्य करने वालों के (लोकान्-प्राप्य) लोकों को प्राप्त होकर (शाश्वतीः-समाः-उषित्वा) बहुत-वर्ष-'वहां' रहकर (शुचीनाम्-श्रीमताम्-गेहे) पवित्र धनवानों के-घर में (अभिजायते) उत्पन्न होता है ।२४।

अथवा योगिनामेव, कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं, लोके जन्म यदीदृशम् ।२५।

(अथवा) या (धीमताम्-योगिनाम्-एव) बुद्धिमान्-योगियों के-ही (कुले-भवति) कुल में-उत्पन्न होता है । (हि-यत्-ईदृशम्-जन्म) निश्चय-जो-इस प्रकार का जन्म है (एतत्-लोके-दुर्लभतरम्) यह-संसार में-अत्यन्त दुर्लभ है ।२५।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं, लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरुनन्दन ।२६।

(कुरु-नन्दन) हे कुरुओं के-आनन्ददाता ! (तत्र) वहां (तम्-पौर्व-देहिकम्) उस-पहिले-शरीर वाले (बुद्धि-संयोगम्-लभते) बुद्धि के-सम्बन्ध को-प्राप्त करता है। (च-ततः-भूयः) और उसके बाद-फिर) संसिद्धौ) अच्छी सिद्धि के लिये (यतते) यत्न करता है ।२६।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्दब्रह्मातिवर्तते ।२७।

(सः-अवशः-अपि) वह-परवश हुआ-हुआ (तेन-पूर्व-अभ्यासेन-एव) उस-पहिले-अभ्यास से-ही, (ह्रियते) 'योग की ओर' लेजाया जाता है । 'और' (योगस्य-जिज्ञासुः) योग की जिज्ञासा वाला 'वह' (शब्द-ब्रह्म-

अपि) शब्द-ज्ञान को भी (अति वर्तते) पार कर जाता है = योग के विषय में जो कुछ भी वह पढ़ता सुनता है, उससे आगे का विषय अपने आप उसके अनुभव में आने लगता है ।२७।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु, योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्ध, स्ततो याति परां गतिम् ।२८।

(प्रयत्नात्) उपाय से (यतमानः) यत्न करता हुआ तु-संशुद्ध-किल्विषः) १ और ३ पाप से-२ शुद्ध हुआ हुआ (अनेक-जन्म-संसिद्धः) अनेक-जन्मों में-पवित्र होकर (ततः-पराम्-गतिम्-याति) इसके बाद-उत्तम गति को-प्राप्त होता है ।२८।

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ।२९।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः ।

हे अर्जुन ! (योगी) ध्यान योगी 'सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों को सहन करने वाले' (तप-

स्विभ्यः) तपस्वियों से 'सदाचार के और संयम के नियमों का पालन करने वाले' (ज्ञानिभ्यः) ज्ञानियों से (च) और 'सकाम कर्म करने वाले' (कर्मिभ्यः) कर्म काण्डियों से (अधिकः-मतः) श्रेष्ठ माना गया है।

यह श्रीमगवद्गीता का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति ।

त्रयोदश अध्याय ।

भक्ति निरूपण

साम्य बुद्धि और आनन्द के प्राप्त कराने वाले ध्यान योग का वर्णन पहिले किया गया है । इस अध्याय में बतलाया गया है कि उसी ध्यानयोग से मनुष्य परम पुरुष भगवान् के भी दर्शन कर सकता है, परन्तु यह तब होगा जब कि ध्यानयोग के साथ भक्ति के रस का मेल कर दिया जावेगा । किस का ध्यान करें ? किसकी भक्ति करें ? इन प्रश्नों के उत्तर में यहां भगवान् के स्वरूप का उपनिषदों की भाषा में व्याख्यान किया गया है । कहा है-भगवान्-वेदों की रचना करने वाले कवि, अनादि और सारे संसार पर शासन करने वाले हैं । वे सूक्ष्म से सूक्ष्म और सब का धारण करने वाले हैं । यद्यपि उसका

स्वरूप इन्द्रियों की पहुंच से दूर है। परन्तु फिर भी तमोगुण के पर्दे से निकल जाने पर आत्मा उस प्रकाश के पुञ्ज भगवान् का दर्शन कर लेता है। घर से चलने के बाद वानप्रस्थ और संन्यास काल में भृकुटि में प्राणों का निरोध कर, मन को एकाग्र करते हुए, उस प्रकाश रूप भगवान् का ध्यान करना चाहिये। वेदवक्ता लोग इसी का व्याख्यान करते हैं, संयमी लोग इसी में प्रवेश करते हैं और ब्रह्मचारी लोग इसी की इच्छा करते हैं। परन्तु वह मिलता है अनन्य भक्ति से। वेदपाठ, यज्ञ, तप और दान इन सब से प्राप्त होने वाला फल उसकी प्राप्ति के सामने साधारण सी वस्तु है। परन्तु उसके पास पहुंचने का मार्ग जाता इन सब में से होकर ही है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भक्तियोग भी कर्मयोगी को उदार हृदय बनाता हुआ उसका सहायक है।
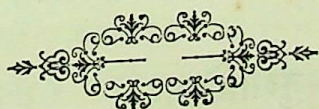
त्रयोदश अध्याय ।

भक्ति योग।

(भक्ति निरूपण)

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं, याति पार्थानुचिन्तयन् ।१।

(न-अन्य गामिना) अन्यत्र न जाने वाले (अभ्यास-योगयुक्तेन) ध्यान योग में-लगे हुए (चेतसा) चित्तसे (अनुचिन्तयन्) 'भगवान् का' ध्यान करता हुआ (पार्थ) हे पृथापुत्र ! (दिव्यम्-परमम्-पुरुषम्) प्रकाशवान् परम पुरुष 'भगवान् को' (याति) प्राप्त होता है ।१।

कविंपुराणमनुशासितार,
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपं,
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।२।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।३।

(कविम्) वेदों की रचना करने वाले (पुराणम्) अनादि (अनुशासितारम्) 'वेदों का' उपदेश करने वाले (अणोः-अणी यांसम्) सूक्ष्म से-अतिसूक्ष्म (सर्वस्य-धातारम्) सब का-धारण करने वाले (तमसः-परस्तात्) अन्धकार से परे (आदित्य-वर्णम्) प्रकाश रूप 'भगवान्' को (यः) जो (भक्त्या-च एव-योग बलेन-युक्तः) भक्ति-और ध्यानयोग के बल से-सम्पन्न (प्राणम्-भ्रुवोः-मध्ये-सम्यक्-आवेश्य) प्राणों को-भृकुटि के-बीच में-भली प्रकार-प्रवेश कराके (प्रयाण काले) गृहस्थ से जाने के समय (अचलेन-मनसा) निश्चल-मन से (अनुस्मरेत्) 'भगवान् का' स्मरण करता है ।

(सः) वह (तम्-दिव्यम्-परमम्-पुरुषम्) उस-प्रकाश रूप परम-पुरुष को (उपैति) प्राप्त करता है ।२।३।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।४।

(वेद विदः) वेद के जानने वाले (यत्-अक्षरम्) जिस-अविनाशी का (वदन्ति) व्याख्यान करते हैं। (वीतरागाः) वैराग्य सम्पन्न (यतयः) संयमी 'लोग' (यम्-विशन्ति) जिसमें-प्रवेश करते हैं। (यत्-इच्छन्तः) जिसकी-इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्यम्-चरन्ति) ब्रह्मचर्य का-आचरण करते हैं। (तत्-पदम्) उस-प्राप्त करने योग्य का (ते-संग्रहेण-प्रवक्ष्ये) तुझे संक्षेप से उपदेश करता हूँ ।४।

पुरुषः स परः पार्थ, भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि, येन सर्वमिदं ततम् ॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (सः) वह (अनन्यया-भक्त्या-लभ्यः) असाधारण-भक्ति से-प्राप्त होने वाला

(परः-पुरुषः) परम-पुरुष 'भगवान् है' (भूतानि-यस्य-अन्तःस्थानि) 'सारे' प्राणी-जिसके अन्दर विद्यमान् हैं (येन-इदम्-सर्वम्-ततम्) जिसने-यह-सब 'संसार' फैलाया = रचा है ।५।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।६।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः ।

(इदम्-विदित्वा) इस-'ब्रह्म को' जानकर (वेदेषु-यज्ञेषु-तपःसु-च-एव-दानेषु) वेदपाठ, यज्ञ, तप और दान 'इन सबके करने पर' (यत्-पुण्य-फलम्) जो-पुण्य-रूप-फल (प्रदिष्टम्) दिखलाया है = कहा है । (योगी-तत्-सर्वम्-अत्येति) योगी-उस-सबको-पीछे छोड़ जाता है (च-आद्यम्-परम्-स्थानम्-उपैति) और-प्रधान-उत्कृष्ट-पद 'भगवान्' को प्राप्त होता है ।६।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

सार और संगति।

चतुर्दश अध्याय।

ज्ञान तथा ज्ञेय निरूपण।

तेरहवें अध्याय में महाराज ने अर्जुन के पूछने पर कर्मयोग में अधूरा रहने वाले मनुष्य की गति का वर्णन किया था। अब इस बात की आवश्यकता थी कि उन साधनों को बतलाया जावे जिनके सहारे से मनुष्य कर्म योग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचने में सफल हो सके। इस अध्याय में उन्हीं साधनों का उल्लेख किया गया है। महाराज ने उन साधनों का नाम रक्खा है ज्ञान। गीता का यह ज्ञान दार्शनिक लोगों के ढंग का ज्ञान नहीं है। वे लोग ज्ञान उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तु के स्वरूप को जाना जाता है, अथवा सत्य और असत्य का विवेक किया जाता है। उसका नाम गीताकार ने विज्ञान रक्खा

है, और उसका वर्णन पन्द्रहवें अध्याय से आरम्भ होगा। दार्शनिक लोग उसे तत्वज्ञान कहते हैं। ज्ञान के नाम से गीता में सदाचार के कुछ नियम बतलाये गये हैं। ऐसे ही नियमों को योग दर्शन में यम और नियम के नाम से और मनुस्मृति में धर्म के नाम से पुकारा गया है। योगदर्शन के यम नियम तत्वज्ञान के साधन हैं, और गीता का ज्ञान, विज्ञान का साधन है। यही कारण है कि सदाचार के इन नियमों का विज्ञान से पहिले वर्णन किया गया है। और विज्ञान का साधन होने के कारण ही इन नियमों को ज्ञान का नाम दिया गया है। इसके साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह ज्ञान जहां विज्ञान का साधन है, ज्ञान और विज्ञान दोनों ही कर्मयोग के भी साधन हैं। ज्ञान के इन नियमों में अन्त का नियम है "तत्व ज्ञानार्थ दर्शनम्" (यथार्थ ज्ञान से पदार्थ को जानना) यद्यपि तत्व ज्ञान से और पदार्थों का भी ज्ञान किया जाता है, परन्तु मुख्य लक्ष्य तत्वज्ञान का भगवान् के स्वरूप का ज्ञान ही है, और इसी लिये जगदीश्वर को ही इस अध्याय में ज्ञेय का नाम दिया गया है। इस अन्तिम नियम का

विषय समझाने के लिये उस ज्ञेय का निरूपण भी इस अध्याय में करना ही चाहिये था, और इसीलिये यहां भगवान् के स्वरूप का निरूपण किया गया है। भगवान् के स्वरूप का कुछ वर्णन भक्तियोग के प्रकरण में किया गया था और कुछ यहां किया गया है। वह सत्ता संसार की वस्तुओं की तरह इन्द्रियों का विषय नहीं। परन्तु वह अभाव रूप भी नहीं है। यह कैसे ? देखो और समझो। देखो भगवान् के, हाथ, पैर, आंख, शिर, मुँह और कान कहीं दिखलाई न देंगे, परन्तु इन इन्द्रियों से होने वाले कार्य सृष्टि में सर्वत्र हो रहे हैं। क्या बिना चले, बिना पकड़े, बिना देखे, बिना समझे, बिना आज्ञा के वचनों का उच्चारण किये और बिना सुने कोई मनुष्य किसी छोटे से परिवार का भी प्रबन्ध कर सकता है। यदि नहीं, तो क्या इतने बड़े संसार चक्र का सञ्चालन इन शक्तियों के बिना कभी किया जा सकता है ? नहीं कभी नहीं। अतः विवश हमें यह कहना ही पड़ेगा, कि यद्यपि उस सूक्ष्म सत्ता का शरीर न होने से उसकी इन्द्रियें नहीं हैं। परन्तु वह ऐसी शक्तियों का स्वामी है जिनसे इन्द्रियों जैसे कार्य किये जा सकते हैं।

वह असंग होता हुआ सबका धारण करता है, निर्गुण होता हुआ गुणों का सञ्चालन करता है, और सर्वत्र पहुँचा हुआ है परन्तु अचल है। वह व्यापक होने से दूर और समीप भी है। सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वह विधाता है। यद्यपि सूक्ष्म होने से उसका जानना कठिन है। परन्तु तमोगुण का पर्दा हटते ही ज्ञान के द्वारा उसके प्रकाश स्वरूप का दर्शन कर ज्ञानी उसे हृदय में ही प्राप्त कर लेता है।
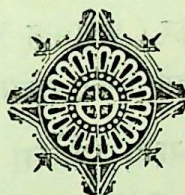
चतुर्दश अध्याय ।

ज्ञान योग ।

'ज्ञान-निरूपण'—

इदं तु ते गुह्यतमं, प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञान सहितं, यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

(ते) तुझ (अनसूयवे) अनिन्दक के लिये (इदम्) इस (गुह्यतमम्) अत्यन्त गुप्त (विज्ञान-सहितम्-ज्ञानम्) विज्ञान के-साथ-ज्ञान को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा, (यत्-ज्ञात्वा) जिसे-जानकर (अशुभात्) अमंगल से = योग भ्रष्ट होने से (मोक्ष्यसे) बच जावेगा ।१।

अमानित्वमदम्भित्व, महिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्यो पासनं शौचं, स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।२।

(अमानित्वम्) अभिमान का त्याग (अदम्भित्वम्) कपट का त्याग (अहिंसा) हिंसा का त्याग (क्षान्तिः) सहन शीलता (आर्जवम्) सरलता

आचार्य-उपासनम्) आचार्य के गुणों का-अनुसरण (शौचम्) 'शरीर, आत्मा और मन की' शुद्धि (स्थैर्यम्) दृढ़ता (आत्म-विनिग्रहः) आत्मा का संयम ।२।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं, अनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि, दुःखदोषानुदर्शनम् ।३।

(इन्द्रिय-अर्थेषु) इन्द्रियों के-विषयों में (वैराग्यम्) वैराग्य (च-एव) और (अन्-अहंकारः) अहंकार का त्याग (जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोष-अनुदर्शनम्) उत्पत्ति-मरण-बुढ़ापा 'और' रोग 'इनके' दुःखों और दोषों को देखना ।३।

असक्तिरनभिष्वङ्ग, पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वं, इष्टानिष्टोपपत्तिषु ।४।

(असक्तिः) विषयों के संग का त्याग (पुत्र-दार-गृह-आदिषु) पुत्र-स्त्री-घर-आदि में (अनभिष्वंगः) विशेष सम्बन्ध न रखना (च-इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु) और इच्छा के अनुकूल 'तथा' इच्छा के विरुद्ध 'वस्तु की' प्राप्ति में (नित्यम्-समचित्तत्वम्) सदा-चित्त को एक रस रखना ।४।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं, अज्ञानं यदतोऽन्यथा ।५।

(अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्) अन्तरात्मा के-ज्ञान में-तत्पर रहना (तत्वज्ञान-अर्थ-दर्शनम्) यथार्थ ज्ञान से-विषयों को जानना (एतत्) यह (ज्ञानम्-इति) ज्ञान (प्रोक्तम्) कहा है। (यत्-अतः-अन्यथा) जो-इसके-विपरीत है (अज्ञानम्) वह अज्ञान है ।५।

'ज्ञेय निरूपण'—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म, न तत्सन्नासदुच्यते ।६।

(यत्-ज्ञेयम्) जो-जानने योग्य है (यत्-ज्ञात्वा) जिसे जानकर (अमृतम्-अश्नुते) मोक्ष-भोगता है। (तत्-प्रवक्ष्यामि) उसे-कहूंगा । (अनादिमत्-परम्-ब्रह्म) 'वह' अनादि-पर-ब्रह्म 'है' (तत्-न-सत्) वह-न-सत् = स्थूल जगत् की तरह दीखने वाला (न-असत्) 'और' न-अभाव रूप (उच्यते) कहा जाता है ।६।

सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ।७।

(तत्-सर्वतः-पाणिपादम्) वह-सब ओर-हाथ पैरों वाला (सर्वतः-अक्षि-शिरः-मुखम्) सब ओर-आंख-शिर 'और' मुख वाला (सर्वतः-श्रुतिमत्) सब ओर कानों वाला (लोके) 'और' संसार में (सर्वम्-आवृत्य-तिष्ठति) सब को-व्याप्त करके-ठहरा हुआ है, अर्थात् उसके पैरों हाथों आंख, शिर, मुंह और कानों से होने वाले कार्य सर्वत्र उसकी व्यापक शक्ति से स्वयं हो रहे हैं ।७।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव, निर्गुणं गुण भोक्तृ च ।८।

'वह' (सर्व-इन्द्रियगुण-आभासम्) सब इन्द्रियों के गुणों की झलक से युक्त, 'और' (सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्) सर्व-इन्द्रियों से-रहित है । (असक्तम्-च-एव-सर्व-भृत्) असङ्ग-और-सब का धारण करने वाला, (निर्गुणम्) गुणों से रहित (च) और (गुण-भोक्तृ) गुणों का पालन करने वाला = उनको कार्य के अनुकूल करने वाला है ।८।

बहिरन्तश्च भूतानां, अचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तद विज्ञेयं, दूरस्थं चान्तिके च तत् ।९।

(तत्) वह (भूतानां) भूतों के (अन्तः-च-बहिः) अन्दर-और-बाहर भी है । (अचरम्-च एव-चरम्) गति से रहित-और-गति वाला = सब को गति देने वाला है । (तत्-सूक्ष्मत्वात्-अविज्ञेयम्) वह-सूक्ष्म होने से-ज्ञान से गम्य नहीं, (तत्-दूरस्थम्) वह 'सर्व व्यापक होने से' दूर (च-अन्तिके) और-समीप भी है ।६।

अविभक्तं च भूतेषु, विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं, ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।१०।

(तत्) वह (भूतेषु) भूतों में (अविभक्तम्) संयुक्त है 'परन्तु सूक्ष्म होने से' (विभक्तम्-इव) संयुक्त न होने की-तरह (स्थितम्) वर्तमान है । (च-तत्) और-उसे (भूतभर्तृ-प्रभविष्णु-च-ग्रसिष्णु-ज्ञेयम्) भूतों का पालन करने वाला-उत्पन्न करनेवाला-और-प्रलय करनेवाला-समझना चाहिये ।१०।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः, तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं, हृदि सर्वस्य ऽधिष्ठितम् ।११।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः ।

(तत्-ज्योतिषाम्-अपि-ज्योतिः) वह-प्रकाशों का-भी-प्रकाश, (तमसः-परम्) तमोगुण से-परे । (ज्ञान-ज्ञेयम्) ज्ञान का-विषय, (ज्ञान-गम्यम्) ज्ञान से-प्राप्त होने वाला, (सर्वस्य-हृदि) सब के-हृदय में (अधिष्ठितम्) विद्यमान (उच्यते) कहा जाता है ।१७।

यह श्रीभगवद्गीता का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति।

पंचदश अध्याय।

गुणकार्य विवेक तथा गुणातीत लक्षण।

चौदहवें अध्याय में ज्ञान का निरूपण किया गया है। सदाचार के मुख्य मुख्य नियमों का नाम ज्ञान है। उन नियमों का पालन करने के बाद ही मनुष्य कर्मयोग का अधिकारी बनता है। कर्मयोग की अन्तिम सीमा तक पहुंचने के लिये तीनों गुणों को पार करना पड़ता है। गुणों से ऊंचा उठने के लिये गुणों की विशेषता और उनके कार्यों का ज्ञान करना पड़ता है। इसी का नाम विज्ञान है। महाराज ने इस अध्याय में इसी विषय का व्याख्यान किया है। सत्व, रज और तम, सुख, प्रवृत्ति और प्रमाद आदि अपने कार्यों से, मनुष्य को संसार के बन्धन में बांधते हैं। सत्वगुण का प्रकाश,

रजोगुण का राग और तमोगुण का मोह स्वरूप है। ज्ञान के बढ़ने पर सत्वगुण, लोभ के बढने पर रजोगुण और आलस्य के बढ़ने पर तमोगुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिये। गुणों के प्रभाव में आया हुआ मनुष्य किसी-न-किसी कामना से ग्रस्त हो ही जाता है। इस लिये कर्मयोगी को गुणों से ऊंचा उठना पड़ता है। गुणातीत मनुष्य को गुण विचालित नहीं कर सकते। गुणों के काम में लगे रहने पर उसे द्वेष नहीं होता, और कार्य से हट जाने पर उसकी अभिलाषा नहीं होती। वह उदासीन की तरह रहता है। सुख और दुःख किसी के भी मिलने पर उसे हर्ष या शोक नहीं होता। सुवर्ण और मिट्टी को वह समान समझता है। मित्र और शत्रु में उसे भेद प्रतीत नहीं होता। कोई प्रवृत्ति उसे खींचती नहीं। ऐसे ही पुरुष को गुणातीत कहा जाता है। और गुणातीत ही कर्मयोग की अन्तिम सीमा तक पहुंचने में सफल होता है।
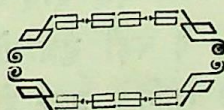
पंचदश अध्याय।

विज्ञान योग।

'गुण-कार्य विवेक'—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे, परां सिद्धिमितोगताः।१।

(परम्) उत्कृष्ट 'और' (ज्ञानानाम्-उत्तमम्) ज्ञानों में श्रेष्ठ (ज्ञानम्-भूयः-प्रवक्ष्यामि) ज्ञान को-फिर-कहता हूं। (यत्-ज्ञात्वा) जिसे-जान कर (सर्वे-मुनयः) सब-मुनि (इतः) यहां (पराम्-सिद्धिम्-गताः) उत्तम-सिद्धि को-प्राप्त हुए हैं।१।

सत्वं रजस्तम इति, गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो, देहे देहिनमव्ययम्।२।

(महाबाहो!) हे बड़ी भुजाओं वाले 'अर्जुन'! (प्रकृति-सम्भवाः) प्रकृति से प्रकट होने वाले (सत्वम्-

रजः-तमः-इति-गुणाः) सत्व-रज 'और' तम-ये-गुण (अव्ययम्) विकार से रहित (देहिनम्) देहधारी = आत्मा को (देहे) शरीर में (निबध्नन्ति) बांधते हैं ।२।

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्, प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति, ज्ञानसङ्गेन चानघ ।३।

(अनघ !) हे निष्पाप 'अर्जुन' ! (तत्र) उनमें से (निर्मलत्वात्) निर्मल होने के कारण (प्रकाशकम्) प्रकाश करने वाला 'और' (अनामयम्) रोग से रहित (सत्वम्) सत्व गुण 'प्रकाशक है इसलिये' (ज्ञान-सङ्गेन) ज्ञान के-सम्बन्ध से 'और नीरोग है इस लिये' (सुख-सङ्गेन) सुख के-सम्बन्ध से (बध्नाति) बांधता है ।३।

रजो रागात्मकं विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय, कर्मसङ्गेन देहिनम् ।४।

(कौन्तेय) हे कुन्ति पुत्र ! (रजः) रजोगुण को (राग-आत्मकम्) राग-स्वभाव वाला (तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम्) तृष्णा 'और' आसक्ति को-उत्पन्न करनेवाला (विद्धि) जान । (तत्) वह (देहिनम्) शरीरधारी को (कर्म-सङ्गेन) प्रवृत्ति के-सम्बन्ध से (निबध्नाति) बांधता है ।४।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि, मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभि, स्तन्निबध्नाति भारत ।५।

(भारत !) हे भरत सन्तान ! (तमः-तु) तमोगुण को तो (अज्ञानजम्) अज्ञान से उत्पन्न होने वाला (सर्व-देहिनाम्-मोहनम्) सब-शरीर धारियों का-मोहने वाला (विद्धि) जान । (तत्) वह (प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः भूल-आलस्य-'और'-नींद से निबध्नाति) बांधता है ।५।

सत्वं सुखे संजयति, रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः, प्रमादे संजयत्युत ।६।

(भारत !) हे भरत सन्तान ! (सत्वम्-सुखे) सत्वगुण-सुख में (रजः-कर्माणि) 'और' रजोगुण-प्रवृत्ति में (सञ्जयति) आसक्त करता है । (तु-उत-तमः) परन्तु-तमोगुण (ज्ञानम्-आवृत्य) ज्ञान को ढक कर (प्रमादे) कर्तव्य की भूल में (सञ्जयति) लगाता है ।६।

रजस्तमश्चाभिभूय, सत्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव, तमः सत्वं रजस्तथा ।७।

हे भारत ! (रजः-च-तमः-अभिभूय) रजोगुण-

और-तमोगुण को-दबा कर (सत्वम्) सत्वगुण (रजः-च-एव-सत्वम्-तमः) रजोगुण-और-सत्वगुण को 'दबा-कर'-तमोगुण 'और' (तथा-सत्वम्-तमः-रजः) उसी प्रकार-सत्वगुण 'और' तमोगुण को 'दबाकर' रजोगुण (भवति) 'प्रबल' होता है ।७।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्, प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात्, विवृद्धं सत्वमित्युत ।८।

(अस्मिन्-देहे) इस-शरीर में (यदा) जब (सर्व द्वारेषु) सब छिद्रों में (प्रकाशः-उपजायते) ज्योति-प्रकट होती है । (तदा) तब (सत्वम्-विवृद्धम्) सत्व-गुण-बढ़ गया है (इति-उत-विद्यात्) यह-समझे ।८।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः, कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते, विवृद्धे भरतर्षभ ।९।

(भरत-ऋषभ !) हे भरत-श्रेष्ठ ! (लोभः-प्रवृत्तिः-कर्मणाम्-आरम्भः) लोभ-प्रवृत्ति-कार्यों का आरम्भ (अशमः) अशान्ति (स्पृहा) प्रबल इच्छा (एतानि) ये (रजसि-विवृद्धे) रजोगुण के-बढ़ने पर (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ।९।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च, प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते, विवृद्धे कुरुनन्दन ।१०।

हे कुरुनन्दन ! (अप्रकाशः) 'अज्ञान रूप' अन्धकार (अप्रवृत्तिः) कर्म में न लगना, (प्रमादः) भूल (च-मोहः) और-मोह (एतानि-एव) ये-ही (तमसि-प्रवृद्धे-जायन्ते) तमोगुण-बढ़ने पर-उत्पन्न होते हैं ।१०।

यदा सत्वे प्रवृद्धे तु, प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकान्, अमलान्प्रतिपद्यते ।११।

(यदा-तु) जब-कि (देहभृत्) शरीरधारी (सत्वे-प्रवृद्धे) सत्वगुण-बढ़ने पर (प्रलयम्-याति) मृत्यु को-प्राप्त होता है (तदा) तब (उत्तमविदाम्) उत्तम ज्ञान वालों = विज्ञानियों के (अमलान्) निर्मल = प्रकाश वाले (लोकान्-प्रतिपद्यते) लोकों को प्राप्त होता है ।११।

रजसि प्रलयं गत्वा, कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि, मूढयोनिषु जायते ।१२

(रजसि) रजोगुण में = रजोगुण की वृद्धि में (प्रलयम्-गत्वा) मृत्यु को-प्राप्त होकर (कर्म-सङ्गिषु) कर्मशीलों में = कर्म करने वालों में (जायते) उत्पन्न

होता है। 'और' (तथा-तमसि-प्रलीनः) उसी प्रकार-तमोगुण 'की वृद्धि में' मरा हुआ (मूढ-योनिषु) अज्ञानी-योनियों में (जायते) उत्पन्न होता है।१२।

कर्मणः सुकृतस्याहुः, सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखं, अज्ञानं तमसः फलम् ।१३।

(सुकृतस्य-कर्मणः) पुण्य = सात्विक कर्म का (सात्विकम्-निर्मलम्-फलम्) सत्वगुणी-निर्मल-फल (रजसः) रजोगुणी 'कर्म का' (दुःखम्-फलम्) दुःख-फल (तु-तमसः) और-तमोगुणी 'कर्म का' (अज्ञानम्-फलम्) अज्ञान-फल (आहुः) कहते हैं।१३।

सत्वात्संजायते ज्ञानं, रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो, भवतोऽज्ञान मेव च ।१४।

(सत्वात्-ज्ञानम्-सञ्जायते) सत्वगुण से-ज्ञान-उत्पन्न होता है। (रजसः-लोभः-एव) रजोगुण से-लोभ-ही (च-तमसः) और-तमोगुण से (प्रमाद-मोहौ) भूल-'और' मोह (भवतः) उत्पन्न होते हैं (च-एव-अज्ञानम्) और-अज्ञान उत्पन्न होता है।१४।

ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्वस्था, मध्येतिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था, अधो गच्छन्ति तामसाः।१५।

(सत्व-स्थाः) सत्वगुण में-रहने वाले 'मनुष्य' (ऊर्ध्वम्-गच्छन्ति) ऊपर-जाते हैं (राजसाः) रजोगुणी (मध्ये-तिष्ठन्ति) बीच में-रहते हैं। 'और' (जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थाः) नीच गुण की-वृत्ति वाले (तामसाः) तमोगुणी (अधः-गच्छन्ति) नीचे जाते हैं।१५।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्, देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखै, र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।१६।

(देही) शरीरधारी (देह-समुद्भवान्) शरीर में-होनेवाले (एतान्-त्रीन्-गुणान्) इन-तीन-गुणों को (अतीत्य) पार करके (जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः) जन्म-मौत 'और' बुढ़ापे के-दुखों से (विमुक्तः) छूटा हुआ (अमृतम्-अश्नुते) मोक्ष को भोगता है।१६।

अर्जुन उवाच।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेता, नतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतां, स्त्रीन्गुणानातिवर्तते।१७।

अर्जुन ने कहा।

(प्रभो!) हे स्वामिन्! (एतान्-त्रीन्-गुणान्) इन-तीन-गुणों को (कैः-लिङ्गैः) किन-चिह्नों से (अतीतः-भवति) पार-होता है = पार करता है। (किम्-आचारः) कैसे-आचार वाला (च-कथम्) और-कैसे (एतान्-त्रीन्-गुणान्) इन-तीन-गुणों को (अतिवर्तते) नीचे छोड़ जाता है।१७।

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च, मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि, न निवृत्तानि काङ्क्षति।१८।

श्री कृष्ण ने कहा।

(पाण्डव) हे पाण्डु पुत्र! (प्रकाशम्-च) सत्व-गुण (प्रवृत्तिम्-च) रजोगुण (च-एव-मोहम्) और-तमोगुण 'इन' (प्रवृत्तानि) काम में लगे हुओं के साथ (द्वेष्टि-न) द्वेष नहीं करता। 'और' (निवृत्तानि) कार्य से हटे हुओं की (न-कांक्षति) अभिलाषा नहीं करता।१८।

'गुणातीत लक्षण'—

उदासीनवदासीनो, गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव, योऽवतिष्ठति नेङ्गते।१९।

(यः-उदासीनवत्-आसीनः) जो-उदासीन की तरह-रहता हुआ (गुणैः) गुणों से (न-विचाल्यते) विचलित नहीं किया जाता।(गुणाः-वर्तन्ते) गुण-'अपना' व्यापार-कर रहे हैं (इति-एव) ऐसा 'समझता हुआ' ही (यः-अवतिष्ठति) जो-स्थिर-रहता है (न-इङ्गते) नहीं-हिलता।१६।

समदुःखसुखः स्वस्थः, समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीर, स्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

(सम-दुःख-सुखः) २ दुःख 'और' ३ सुख में १ समान (स्वस्थः) संभला हुआ (सम-लोष्ट-अश्म-कांचनः) २ ढेला-३ पत्थर 'और' ४ सुवर्ण में १ समान भाव वाला (तुल्य-प्रिय-अप्रियः) २ प्रेमी 'और' शत्रु में १ समान, (धीरः) धीरज वाला (तुल्य-निन्दा-आत्म-संस्तुतिः) २ बुराई ३ 'और'-अपनी प्रशंसा को-१ समान समझने वाला।२०।

मानापमानयोस्तुल्य, स्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः स उच्यते।२१।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः।

(मान-अपमानयोः) आदर 'और' अनादर में (तुल्यः) समान (मित्र-अरिपक्षयोः-तुल्यः) मित्र- 'और' शत्रु-पक्ष में-समान (सर्व-आरम्भ-परित्यागी) सब प्रवृत्तियों का-त्याग करने वाला 'जो हो' (सः) वह (गुणातीतः) गुणातीत (उच्यते) कहा जाता है।२१।

यह श्रीभगवद्गीता का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।
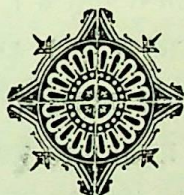
सार और संगति।

षोडश अध्याय।

दैव-आसुर भाव-विवेक।

पन्द्रहवें अध्याय में गुणों का विवेचन कर गुणातीत का स्वरूप बतलाया गया है। अर्जुन अभी गुणातीत पद का अधिकारी न था। इस लिये उसे महाराज सत्वगुण की महिमा से प्राप्त होने वाली दैवी सम्पत्ति की ओर चलने की प्रेरणा करते हुए, और उसका उसे यथार्थ अधिकारी बतलाते हुए इस अध्याय में दैवी और आसुरी दोनों सम्पत्तियों की व्याख्या करते हैं। निर्भयता, दान, दम, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, भूतों पर दया, लोभ का त्याग, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, अभिमान का त्याग आदि ज्ञानयोग

में वर्णन किये गये गुण ही दैवी सम्पत्ति वाले मनुष्य की सम्पत्ति होते हैं। इसके विपरीत कपट, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि दुर्गुण आसुरी सम्पत्ति के चिह्न हैं। इन दोनों सम्पत्तियों का वर्णन कर महाराज ने कहा, अर्जुन! चिन्ता न करो, तुम दैवी सम्पत्ति के अधिकारी हो। कर्मयोग के मार्ग में चलना तुम्हारे लिये कुछ भी कठिन नहीं है। इससे आगे चल कर अर्जुन को विपरीत मार्ग से बचाने के लिये महाराज ने आसुरी भूतसृष्टि का विस्तार से वर्णन किया है। कहा है—आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते। शौच, आचार और सत्य उनके समीप नहीं आते। न वे ईश्वर को मानते हैं और न जगत् की सत्यता को। वे संसार की उत्पत्ति कामवासना से मानते हैं, और काम वासना से ही प्रत्येक कार्य करते हैं। अपनी इस निकृष्ट भावना से वे संसार को हानि ही पहुंचाते हैं लाभ नहीं। उनकी कामना कभी पूरी नहीं होती और इसी के कारण अनेक चिन्ताओं के ग्रास बन जाते हैं। अपनी कामना की पूर्ति के लिये वे अन्याय से धन का संग्रह करते हैं। वे अपने आप को ही सब से बड़ा और सब कुछ सम-

भ्रते हैं। और यदि कोई यज्ञ भी करते हैं तो कपट से, और विधि का उल्लङ्घन करते हुए। अर्जुन! तमोगुण की सृष्टि काम, क्रोध और लोभ ही इन से ये सब दुष्कर्म कराते हैं। इस लिये इन का त्याग कर, कर्मयोग शास्त्र की विधि से कर्म कर। कर्मयोग शास्त्र की विधि को छोड़ कर फल कामना से कर्म करने वाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।
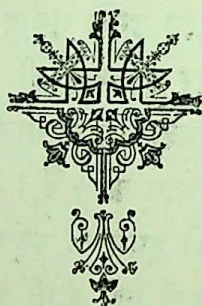
षोडश अध्याय।

विज्ञान योग।

(दैव-आसुर भाव-विवेक)

अभयं सत्वसंशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।१।

हे भारत! (अभयम्) निडर होना (सत्व-संशुद्धिः) अन्तःकरण की-शुद्धि (ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः) ज्ञानयोग में दृढ़ता, (दानम्-दमः-यज्ञः) दान देना-इन्द्रियों का दमन करना-लोक हित की भावना से कर्म करना (स्वाध्यायः-तपः-आर्जवम्) धर्म ग्रन्थों का पढ़ना-सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का सहना-सरलता।१।

अहिंसा सत्यमक्रोधः, त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्व लोलुप्त्वं, मार्दवं ह्रीरचापलम्।२।

(अहिंसा) मन वाणी और कर्म से किसी को कष्ट

न देना, (सत्यम्) सत्य बोलना (अक्रोधः) क्रोध न करना (त्यागः-शान्तिः) त्याग 'और' शान्ति (अपैशुनम्) चुगली न करना (भूतेषु-दया) प्राणियों पर दया (अलोलुप्त्वम्) लोभी न होना (मार्दवम्-ह्रीः) नम्रता 'और' लज्जा (अचापलम्) चंचल न होना ।२।

तेजः क्षमा धृतिः शौचं, अद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवी, मभिजातस्य भारत ।३।

(तेजः) प्रताप (क्षमा) सहनशीलता (धृतिः) धैर्य (शौचम्) 'अन्दर और बाहर की' शुद्धि (अद्रोहः) वैर का त्याग (च-अतिमानिता-न) और-अधिक मान का-न होना 'ये सब गुण' (दैवीम्-सम्पदम्-अभिजातस्य) दैवी-सम्पत् के साथ-उत्पन्न हुए हुए के (भवन्ति) हैं ।३।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ संपदमासुरीम् ।४।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (दम्भः-दर्पः-च-अभिमानः) कपट-गर्व और अहंकार (क्रोधः-च-पारुष्यम्) क्रोध-और-कठोरता (च-अज्ञानम्) तथा-अज्ञान (आसुरीम्-सम्पदम्-अभिजातस्य) आसुरी-सम्पत्ति के साथ-उत्पन्न हुए पुरुष के 'गुण' (भवन्ति) होते हैं ।४।

दैवी संपद्विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीं, अभिजातोऽसि पाण्डव ।५।

(दैवी-सम्पत्) दैवी सम्पत्ति (विमोक्षाय) मोक्ष के लिये (आसुरी-निबन्धाय-मता) 'और' आसुरी सम्पत् बन्धन का हेतु-मानी गई है । (पाण्डव) हे पाण्डु पुत्र (माशुचः) शोक न कर (दैवीम्-सम्पदम्) दैवी-सम्पत्ति के साथ (अभिजातः-असि) उत्पन्न हुए हो ।५।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्, दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त, आसुरं पार्थ मे शृणु ।६।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (अस्मिन्-लोके) इस लोक में (दैवः-च-एव-आसुरः) दैव-और-आसुर (द्वौभूत-सर्गौ) दो प्रकार की-भूतों की सृष्टि 'है' (दैवः) दैव सर्ग को (विस्तरशः-प्रोक्तः) विस्तार से-कह चुके हैं । (आसुरम्-मे-शृणु) आसुर को-मुझसे-सुन ।६।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषु विद्यते ।७।

(प्रवृत्तिम्-च-निवृत्तिम्) प्रवृत्ति और निवृत्ति को = कर्तव्य और अकर्तव्य को (आसुराः-जनाः) आसुर

(आशा-पाशशतैः-बद्धाः) आशाओं के-सैकड़ों जालों से-बंधे हुए, (काम-भोग-अर्थम्) विषयों के-भोग के-लिये (अन्यायेन) अनीति से (अर्थ-सञ्चयान्) धन के-ढेरों को (ईहन्ते) 'प्राप्त करने की' चेष्टा करते हैं ।१२।

इदमद्य मया लब्धं, इमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे, भविष्यति पुनर्धनम् ।१३।

इदम्-अद्य-मया-लब्धम्) यह-आज-मैंने-प्राप्त किया, (इमम्-मनोरथम्-प्राप्स्ये) इस-मनोरथ को-प्राप्त करूंगा । (इदम्-अस्ति) यह-है (इदम्-अपि-धनम्-मे-पुनः-भविष्यति) यह-भी-धन-मेरा-फिर-हो जावेगा ।१३।

असौ मया हतः शत्रुः, हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।१४।

(असौ-शत्रुः-मया-हतः) यह-शत्रु-मैंने-मार दिया है, (च-अपरान्-अपि-हनिष्ये) और-औरों को-भी-मारूंगा । (अहम्-ईश्वरः) मैं-ऐश्वर्य वाला हूं, (अहम्-भोगी) मैं-भोगों से सम्पन्न हूं, (अहम्-सिद्धः-बलवान्-सुखी) मैं-सिद्ध-बलवान् 'और' सुखी हूं ।१४।

आढ्योऽभिजनवानस्मि,
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये,
इत्यज्ञान विमोहिताः ।१५।

आढ्यः-अभिजनवान्-अस्मि) 'मैं' धनी-देश का स्वामी-हूं। (मया-सदृशः-अन्यः-कः-अस्ति) मेरे-जैसा-और-कौन-है। (यक्ष्ये-दास्यामि-मोदिष्ये) यज्ञ करूंगा-दान दूंगा 'और' आनन्द लूटूंगा (इति-अज्ञान-विमोहिताः) इस प्रकार के-अज्ञान से-मूढ हुए ।१५।

अनेकचित्तविभ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ ।१६।

(अनेक-चित्त-विभ्रान्ताः) अनेक-विचारों वाले-भ्रान्त हुए-हुए (मोह-जाल-समावृताः) मोह के-जाल से-घिरे हुए, (काम-भोगेषु-प्रसक्ताः) विषय वासनाओं के-भोगों में-फंसे हुए, 'ये लोग' (अशुचौ-नरके-पतन्ति) अपवित्र-नरक में-गिरते हैं ।१६।

आत्मसंभाविताः स्तब्धाः,धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते, दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।१७।

(आत्म-सम्भाविताः) 'आप' अपनी बड़ाई करने वाले (स्तब्धाः) अकड़े हुए (धन-मान-मद-अन्विताः)

धन के-अभिमान 'और' नशे से-भरे हुए (ते) वे 'लोग' (यज्ञैः) यज्ञों से (दम्भेन-अविधि पूर्वकम्) कपट से-विधि के बिना ही (यजन्ते) यज्ञ करते हैं ।१७।

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः, तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(आत्मनः-नाशनम्) आत्मा का-नाश करने वाला (नरकस्य-इदम्-त्रिविधम्-द्वारम्) नरक का-यह-तीन प्रकार का दर्वाज़ा है । (कामः-क्रोधः-तथा-लोभः) काम-क्रोध-और-लोभ । (तस्मात्-एतत्-त्रयम्-त्यजेत्) इसलिये- इन तीनों को-छोड़ दे ।१८।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय, तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयः, ततो याति परां गतिम् ॥

(कौन्तेय) हे कुन्तिपुत्र ! (नरः) मनुष्य (एतैः-त्रिभिः-तमः-द्वारैः-विमुक्तः) इन-तीन-तमोगुण के-दर्वाजों से-छूटा हुआ (आत्मनः-श्रेयः-आचरति) अपना-कल्याण-करता है । (ततः-पराम्-गतिम्-याति) फिर-परम-गति को-प्राप्त होता है ।१९।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ।२०।

(यः-शास्त्र-विधिम्-उत्सृज्य) जो-शास्त्र विधि को-छोड़ कर (काम कारतः-वर्तते) इच्छा के अनुसार-व्यवहार करता है। (सः) वह (न-सिद्धिम्-न-सुखम्-न-पराम्-गतिम्) न-सिद्धि-न-सुख 'और' न-परम-गति को (अव्-आप्नोति) प्राप्त करता है।२०।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं, कर्म कर्तुमिहार्हसि।२१।

इति श्रीभगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः।

(तस्मात्) इस लिये (कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ) कर्तव्य 'और' अकर्तव्य की-व्यवस्था में (ते-शास्त्रम्-प्रमाणम्) तेरे लिये-शास्त्र-प्रमाण है। (ज्ञात्वा) 'इस बात को' जान कर (इह-शास्त्र-विधान-उक्तम्) यहां पर-शास्त्र की-विधि के अनुसार-कहा हुआ, (कर्म-कर्तुम्-अर्हसि) 'तुझे' कर्म-करना-चाहिये।२१।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सार और संगति।

सप्तदश अध्याय।

गुणनिष्ठा।

सोलहवें अध्याय में महाराज ने अर्जुन को सत्व गुण प्रधान दैवी सम्पत्ति का अधिकारी बतलाते हुए दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन किया था। यद्यपि अर्जुन क्षत्रिय था, और इसीलिये उसमें रजोगुण प्रधान होना चाहिये था। परन्तु महाराज अर्जुन की अवस्था को जान चुके थे। राजपाट को तृण के समान समझ कर फेंक देने का भाव प्रकट करते ही महाराज अर्जुन के हृदय को ताड़ गये थे। उन्हें उसके अन्दर सत्वगुण की चमकती हुई ज्योति स्पष्ट दीख रही थी। वे यह भली भांति जान चुके थे कि जो राजलक्ष्मी को लात मार सकता है उसके लिये कर्मफल का त्याग कोई कठिन बात नहीं। और इसी लिये उन्होंने उसे दैवी सम्पत्ति या सत्वनिष्ठा का अधिकारी कहा।

इस अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न कर दिया कि महाराज जो शास्त्र विधि के बिना ही श्रद्धा से यज्ञ करते हैं उनकी सात्विक, रजोगुणी या तमोगुणी कौन सी निष्ठा होती है। अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में महाराज ने सत्वनिष्ठा के सारे ही व्यवहारों का दिग्दर्शन करा दिया है जिससे कि उसे उस मार्ग में चलने के लिये सुभीता हो।

महाराज ने कहा—अर्जुन! श्रद्धा मनुष्य के अन्तः-करण के गुणों पर अवलम्बित है। सात्विक श्रद्धा की पहचान, पूजा, आहार, यज्ञ, तप और दान के आचरण को देख कर सुगमता से हो जाती है।

सात्विक लोग यज्ञ के द्वारा देवताओं की, रजोगुणी लोग यक्षों और राक्षसों की और तमोगुणी लोग भूतों और प्रेतों की पूजा करते हैं। आयु, बल, आरोग्य और सुख को बढ़ाने वाले, रसीले, स्निग्ध और हृदय के लिये हितकारक बलिष्ठ भोजन सात्विक लोगों के प्यारे होते हैं। चटपटे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तेज़, रूखे और दाह पैदा करने वाले दुःख, शोक और रोग जनक भोजन रजोगुणी लोगों के प्रिय हैं। और तमोगुणी लोगों को

देर के बने हुए, नीरस, बासी जूठे और बुद्धि नाशक भोजन प्रिय होते हैं।

फल की कामना को छोड़ कर विधि के अनुसार किया गया, सत्वगुणी, पाखण्ड से, बिना विधि के ही किया गया, रजोगुणी, और विधि, दक्षिणा तथा श्रद्धा के बिना ही किया गया तमोगुणी यज्ञ है।

देवों, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों का सत्कार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिकतप है। न भड़काने वाले, सत्य, प्यारे और हित कारक वचन; और स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप है। मन की प्रसन्नता, शान्ति, कम बोलना, आत्मा का संयम और भाव की शुद्धि मानसिक तप है। ये तीनों ही तप फल की कामना के बिना, श्रद्धा से किये गये सात्विक; सत्कार मान और पूजा के लिये, पाखण्ड से किये गये रजोगुणी, और दूसरे को कष्ट देने के लिये, अथवा मूर्खता से अपने आपको ही कष्ट पहुंचाने वाले, विधि के बिना किये गये तप तमोगुणी कहलाते हैं।

जो दान अपना कोई उपकार न करने वाले को श्रद्धा-भक्ति से अच्छा स्थान अच्छा काल और श्रेष्ठ पात्र

देख कर दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है। जो किसी फल की कामना से, अपना भला करने वाले को, दुःखमान कर दिया जाता है वह रजोगुणी दान है। और बुरे स्थान तथा समय में कुपात्र को अपमान करते हुए जो दान दिया जाता है वह तमोगुणी दान है। ओं; तत् और सत् ये तीनों ही ब्रह्म के नाम हैं। इस लिये प्रत्येक शुभ कर्म के आरम्भ में ओं का उच्चारण करते हुए, तत् पद के वाच्य भगवान् की निर्दिष्ट विधि के अनुसार श्रद्धा से फल की कामना को छोड़ कर सद्बुद्धि से यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मों को करना चाहिए।

सप्तदश अध्याय ।

विज्ञान योग ।

(गुणनिष्ठा)

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य, यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण, सत्वमाहो रजस्तमः ।१।

अर्जुन ने कहा ।

हे कृष्ण ! (ये-शास्त्र-विधिम्-उत्सृज्य) जो-शास्त्र की-विधि को-छोड़ कर (श्रद्धया-अन्विताः) श्रद्धा से-युक्त हुए-हुए (यजन्ते) यज्ञ करते हैं । (तेषाम्) उनकी (सत्वम्-रजः-आहोतमः) सत्वगुणी-रजोगुणी-अथवा-तमोगुणी (का-निष्ठा) कौन सी-निष्ठा है ।१।

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव, तामसी चेति तां शृणु ।२।

श्रीकृष्ण ने कहा।

(देहिनाम्) शरीर धारियों की (सात्विकी-राजसी-च एव-तामसी) सत्वगुणी-रजोगुणी-और-तमोगुणी (त्रि-विधा-श्रद्धा-भवति) तीन प्रकार की-श्रद्धा-होती है (ताम्-शृणु) 'तू' उसे-सुन ।२।

सत्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।३।

(भारत) हे भरत सन्तान ! (सर्वस्य-श्रद्धा) सब की-श्रद्धा (सत्व-अनुरूपा) अन्तःकरण की स्थिति के-अनुकूल (भवति) होती है। (अयम्-पुरुषः-श्रद्धामयः) यह-पुरुष-श्रद्धा-का पुतला 'है' (यः-यत्-श्रद्धः) जो-जैसी श्रद्धावाला है (सः-सः-एव) वह-वैसी ही निष्ठा वाला है ।३।

यजन्ते सात्विका देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ।४।

(सात्विकाः-देवान्) सात्विक 'लोग' देवताओं की (राजसाः-यक्ष-रक्षांसि) 'और' रजोगुणी 'लोग' यक्षों 'और' राक्षसों की (यजन्ते) पूजा करते हैं। (अन्ये-

तामसाः-जनाः) दूसरे-तमोगुणी लोग (प्रेतान्-च-भूत-गणान्-यजन्ते) प्रेतों-और-भूतों के-सङ्घ की (यजन्ते) पूजा करते हैं ।४।

विशेष—जिनके अन्तःकरण में सत्व गुण प्रधान होता है । वे ज्ञानी होते हैं। इसीलिये वे देवताओं (ज्ञानियों अथवा भगवान् की दिव्य शक्तियों) की पूजा करते हैं (सत्कार करते हैं)

जिन लोगों के अन्तःकरणों में रजोगुण प्रधान है, उन का स्वभाव क्रूर होता है । इसलिये वे यक्ष-राक्षसों (क्रूर-स्वभाव वाले प्राणियों) की पूजा करते हैं (सत्कार करते हैं)

जिन लोगों के अन्तःकरण में तमोगुण प्रधान है । वे अज्ञानी होते हैं बहुधा ऐसे ही लोगों को मृत आत्माओं पर विश्वास होता है । और ये लोग प्रेतों और भूतों पर (जो कि वस्तुतः कोई चीज़ नहीं) विश्वास रखते हैं । और उन्हीं की पूजा करते हैं ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य, त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं, तेषांभेदमिमं शृणु ।५।

(च-सर्वस्य) और-सबको (आहारः-यज्ञः-तपः-तथा दानम्-अपि) भोजन-यज्ञ-तप-तथा-दान-भी (त्रिविधः-प्रियः-भवति) तीन-प्रकार का-प्रिय-होता है । (तेषाम्-(इमम्-भेदम्-शृणु) उनके-इस-भेद को-सुनो ।५।

आयुः सत्वबलारोग्य,
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या,
आहाराः सात्विकाप्रियाः ।६।

(आयुः-सत्व-बल-आरोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः) उमर सत्वगुण-बल-निरोगता-सुख 'और' प्रेम को-बढ़ाने वाले (रस्याः-स्निग्धाः-स्थिराः-हृद्याः-आहाराः) रसीले-चिकने-दृढ़ हृदय के लिये हितकारक-भोजन (सात्विक-प्रियाः) सत्वगुणी लोगों के-प्यारे होते हैं ।६।

कट्वम्ललवणात्युष्ण, तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः ।७।

(कटु-अम्ल-लवण-अति-उष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः) कड़वे-खट्टे-नमकीन-बहुत गरम-तीखे-रूखे-जलन पैदा करने वाले (दुःख-शोक-आमय-प्रदाः) दुःख-शोक 'और' रोग को-पैदा करने वाले, (आहाराः) भोजन (राजसस्य-इष्टाः) रजोगुणी 'लोगों' को-प्रिय हैं ।७।

यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ।८।

(यात-यामम्) देर के बने हुए (गत-रसम्) स्वाद से रहित (पूति-पर्युषितम्) दुर्गन्ध वाले-बासी (उच्छिष्टम्-च-अपि-अमेध्यम्) जूठे-और-बुद्धि को बिगाड़ने वाले (भोजनम्-तामस-प्रियम्) भोजन-तमोगुणी 'लोगों' के प्यारे हैं।८।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः, समाधाय स सात्त्विकः ।९।

(अफल-आकांक्षिभिः फल की-इच्छा न करने वाले 'पुरुषों' से (यष्टव्यम्-एव) यज्ञ ही करना है 'फल की इच्छा नहीं करनी' (इति-मनः-समाधाय) इस प्रकार मन को-एकाग्र करके (यः-विधि-दृष्टः-यज्ञः-इज्यते) जो-विधि के अनुसार-यज्ञ किया जाता है। (सः-सात्विकः) वह सत्व गुणी है ।९।

अभिसंधाय तु फलं, दम्भार्थमपि चैवयत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ, तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।१०।

हे भरत श्रेष्ठ ! (फलम्-तु-अभिसन्धाय) फल को ध्यान में रखकर (च-एव-दम्भ-अर्थम्-अपि) और-ढोंग के-लिये-भी (यत्-इज्यते) जो-यज्ञ किया जाता है।

(तत्-यज्ञम्) उस-यज्ञ को (राजसम्-विद्धि) रजोगुणी-जान ।१०।

विधिहीनमसृष्टान्नं, मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते ।११।

(विधि-हीनम्) विधि से-रहित (असृष्ट-अन्नम्) २ अन्न १ दान से रहित (मन्त्र-हीनम्) मन्त्र से रहित (अदक्षिणम्) दक्षिणा से रहित (श्रद्धा-विरहितम्) 'और' श्रद्धा से-रहित (यज्ञम्-तामसम्-परिचक्षते) यज्ञ तमोगुणी-कहा जाता है ।११।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ, पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ।१२।

(देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम्) विद्वान्-ब्राह्मण-गुरु 'और' बुद्धिमान् का-सत्कार (शौचम्) शुद्धि (आर्जवम्) सरलता (ब्रह्मचर्यम्-च-अहिंसा) ब्रह्मचर्य-और-अहिंसा (शारीरम्-तपः-उच्यते) शारीरिक-तप-कहलाता है ।१२।

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ।१३।

(यत्-वाक्यम्-अनुद्वेगकरम्) जो-वचन-घबराहट को

न पैदा करने वाला, (च-सत्यम्-प्रियम्-हितम्) और-सत्य-प्यारा 'तथा' हितकारक हो, 'वह' (च-एव-स्वाध्याय-अभ्यसनम्) और-स्वाध्याय का-अभ्यास (वाक्-मयम्-तपः-उच्यते) वाणी का-तप-कहलाता है ।१३।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येत, त्तपो मानसमुच्यते ।१४।

(मनः-प्रसादः) मन की-निर्मलता (सौम्यत्वम्) शान्ति (मौनम्) कम बोलना (आत्म-विनिग्रहः) आत्मा का-संयम (भाव-संशुद्धिः) विचारों की-पवित्रता (इति-एतत्) पूर्व कहा गया-यह (मानसम्-तपः-उच्यते) मानसिक-तप-कहलाता है ।१४।

श्रद्धया परया तप्तं, तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः, सात्विकं परिचक्षते।१५।

(अफल-आकांक्षिभिः) फल की-इच्छा न करने वाले (युक्तैः) योग में लगे हुए (नरैः) मनुष्यों से (परया-श्रद्धया-तप्तम्) उत्कृष्ट-श्रद्धा से-तपा गया (तत्-त्रिविधम्-तपः) वह-तीन प्रकार का तप (सात्विकम्-परिचक्षते) सत्वगुणी-कहलाता है ।१५।

सत्कारमानपूजार्थं, तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ।१८।

(यत्-तपः) जो-तप (सत्कार-मान-पूजा-अर्थम्) आदर-बड़ाई 'और' पूजा के लिये (च-एव-दम्भेन-क्रियते) और-कपट से-किया जाता है । (तत्-इह) वह-यहां पर (राजसम्-चलम्-अध्रुवम्-प्रोक्तम्) रजोगुणी-नाशवान्-'और' स्थिर न रहने वाला-कहा गया है ।१८।

मूढग्राहेणात्मनो यत् , पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम् ।१७।

(यत्-तपः) जो-तप (मूढ-ग्राहेण) मूर्खता के-आग्रह से (आत्मनः-पीड़या) आत्मा को-कष्ट देकर (वा-परस्य-उत्सादनार्थम्) अथवा-दूसरे को-उखाड़ने के लिये (क्रियते) किया जाता है । (तत्-तामसम्-उदाहृतम्) वह-तमोगुणी-कहा गया है ।१७।

दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥

(यत्-दानम्) जो-दान (दातव्यम्-इति) देना चाहिये-इस बुद्धि से (देशे-काले-च-पात्रे) 'अच्छे' स्थान-

समय-और-पात्र में (अनुपकारिणे) 'अपना' उपकार न करने वाले को (दीयते) दिया जाता है, (तत्-सात्विकम्-उदाहृतम्) वह-सत्वगुणी-कहा गया है ।१८।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दानं राजसं स्मृतम् ।१६।

(तु-पुनः-यत्) परन्तु-जो (प्रति-उपकार-अर्थम्) बदला उतारने के लिये (वा-फलम्-उद्दिश्य) या-फल को-निमित्त बना कर (च-परिक्लिष्टम्-दीयते) और-दुखी होकर-दिया जाता है । (तत्-दानम्-राजसम्-स्मृतम्) वह-दान-रजोगुणी-कहा गया है ।१६।

अदेशकाले यद्दानं, अपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं, तत्तामसमुदाहृतम् ।२०।

(यत्-दानम्) जो-दान (अदेश-काले) निषिद्ध स्थान 'और' काल में (च-अपात्रेभ्यः) और-कुपात्रों को (असत्कृतम्-अवज्ञातम्) बिना सत्कार के-तिरस्कार के साथ (दीयते) दिया जाता है । (तत्-तामसम्-उदाहृतम्) वह-तमोगुणी-कहा है ।२०।

ओंतत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।२१।

(ओं-तत्-सत्-इति) ओं-तत् 'और' सत्-यह (त्रिविधः) तीन प्रकार का (ब्रह्मणः-निर्देशः-स्मृतः) ब्रह्म के लिये-शब्द-व्यवहार-कहा गया है। (तेन) उस 'ब्रह्म' ने (पुरा) पहिले 'सृष्टि के आरम्भ में' (ब्राह्मणाः-वेदाः-च-यज्ञाः) विहिताः) ब्रह्मज्ञानी 'ऋषि' वेद-और-यज्ञ-उत्पन्न किये।२१।

तस्मादोमित्युदाहृत्य, यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः, सततं ब्रह्मवादिनाम्।२२।

(तस्मात्) इसलिये (ब्रह्म-वादिनाम्) ब्रह्म-वादियों के (विधान-उक्ताः) विधि शास्त्र में-कहे गये (यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः) यज्ञ-दान 'और' तप-कर्म (ओ३म्-इति-उदाहृत्य) ओ३म्-इस शब्द का उच्चारण करके (सततम्-प्रवर्तन्ते) निरन्तर-चलते हैं।२२।

तदित्यनभिसंधाय, फलं यज्ञतप क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

(मोक्ष-कांक्षिभिः) मोक्ष की- इच्छा वालों से (तत्-इति) वह 'कर्तव्य है' इस भावना से (फलम्-अनभि-सन्धाय) फल को-ध्यान में न रखकर (यज्ञ-तपः-क्रियाः) यज्ञ 'और' तप-कर्म (च-विविधाः-दान-क्रियाः) और-अनेक प्रकार के दान-कर्म (क्रियन्ते) किये जाते हैं।२३।

सद्भावे साधुभावे च, सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।२४।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (सत्-भावे) सचाई में (च-साधुभावे) और-भलाई में (सत्-शब्दः-प्रयुज्यते) सत्-शब्द का-प्रयोग होता है (तथा) 'और' उसी तरह (प्रशस्ते-कर्मणि) प्रशंसा के योग्य-कर्म में (सत्-शब्दः-युज्यते) सत्-शब्द 'का व्यवहार' युक्त है ।२४।

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं, सदित्येवाभिधीयते ।२५।

(यज्ञे-तपसि-च-दाने-स्थितिः) यज्ञ-तप-और-दान में-स्थिति (सत्-इति-उच्यते) सत्-इस नाम से-कही जाती है। (तत्-अर्थीयम्) उन 'यज्ञ आदि के' निमित्त (कर्म-च-एव) कर्म-भी (सत्-इति-एव) सत्-इस नाम से ही (अभिधीयते) कहा जाता है ।२५।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ, न च तत्प्रेत्य नो इह ।२६।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः ।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (अश्रद्धया) अश्रद्धा से (हुतम्-दत्तम्-तप्तम्-तपः-च-यत्-कृतम्) यज्ञ किया हुआ-दिया हुआ-तपा हुआ-तप-और-किया हुआ-जो 'कर्म' है (असत्-इति-उच्यते) वह-असत्-इस नाम से-कहा जाता है (तत्-न-प्रेत्य-च-नो-इह) वह-न-मरने के बाद-और-न यहां 'किसी काम का है' ।२८।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।
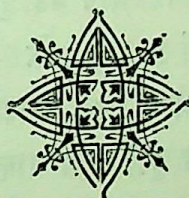
सार और संगति।

अष्टादश अध्याय।

गुणनिष्ठा।

संन्यास और त्याग (कर्मयोग) का वर्णन यद्यपि पहिले आ चुका है। यह बात अर्जुन को भली भांति समझाई जा चुकी है कि कर्म के त्याग का नाम संन्यास, और कर्मफल के त्याग का नाम त्याग (कर्मयोग) है। परन्तु यह सब जानते हुए भी यहां अर्जुन ने उसी विषय को फिर छेड़ दिया है। यद्यपि यह पुनरुक्ति प्रतीत होती है परन्तु ऐसा है नहीं। अर्जुन के इस प्रश्न का भाव और है। उसका यह भाव उसके 'तत्वमिच्छामि वेदितुम्' (तत्व जानना चाहता हूं) इस वाक्य से स्पष्ट झलक रहा है। यह गुण-निष्ठा का प्रकरण है। इस लिये अर्जुन गुणों की दृष्टि से भी इन दोनों वस्तुओं का स्वरूप जानना चाहता था। और यह भी इस बात को जानने के लिये कि मैं कर्मयोग के किस अंश का अधिकारी हूं।

महाराज भी उसके भाव को समझ गये, और उन्होंने इसी दृष्टि से उसके इस प्रश्न का उत्तर इस अध्याय में आगे चल कर दिया है। संन्यास और त्याग का लक्षण करने के बाद उन्होंने यज्ञ, दान और तप के बारे में दूसरे महात्माओं का मत दिखलाते हुए अपना मत प्रकट किया है। इस विषय को उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया है कि यज्ञ, दान और तप आत्मा को पवित्र करने वाले कर्म हैं, इन्हें कभी न छोड़ना। हां! इन्हें भी आसक्ति और फल की कामना को छोड़ कर ही करना चाहिये।

नियत कर्मों के त्याग का भी उन्होंने सर्वथा निषेध किया है वर्ण और आश्रम के धर्म नियत हैं। सन्ध्या आदि नित्य कर्म नियत हैं। इसके बाद महाराज ने गुणों की दृष्टि से तीन भाग कर अर्जुन को त्याग का रहस्य समझाया है। उन्होंने कहा, अर्जुन! जो मनुष्य भ्रांति से नियत कर्मों को छोड़ता है उसका त्याग तमोगुणी त्याग है। जो दुःख समझ कर शरीर के क्लेश के भय से कर्मों को छोड़ता है उसका त्याग रजोगुणी है। और जो कर्तव्य समझ कर नियत कर्म को तो करता चला जाता है, परन्तु आसक्ति और उसके फल की कामना का त्याग

कर देता है। उसका त्याग सत्वगुणी त्याग है। सारे कर्मों को देहधारी छोड़ भी कैसे सकता है, इसलिये यह तीसरा त्याग ही सच्चा त्याग है। इसलिये भी मनुष्य कर्मों को नहीं छोड़ सकता कि वह अकेला उनका कारण नहीं है। प्रत्येक कर्म के पांच कारण तो अवश्य होते हैं। जैसे कि, रण में कोई वीर किसी की छाती में शस्त्र का प्रहार करता है। उसके इस कर्म का एक कारण वह मनुष्य है जिसके ऊपर उसने प्रहार किया है। यदि इस मनुष्य के, उस वीर के हृदय को क्षुब्ध करने वाले व्यवहार न होते तो उससे यह कर्म कभी हो ही नहीं सकता था। इसी कारण का नाम अधिष्ठान है। दूसरा कारण प्रहार करने वाला वीर है, उसे कर्त्ता कहते हैं। तीसरा कारण मारने वाले वीर की अनेक प्रकार की चेष्टाएँ हैं इन सबकी उत्पति संस्कारों से होती है। और जब तक संस्कार हैं इन्हें दूर किया नहीं जा सकता। धनुष बाण आदि मारने के साधन चौथा कारण हैं, इसे करण कहते हैं। और पांचवां कारण भाग्य है। इसी का नाम दैव है। इन सब कारणों के होते हुए अकेले कर्त्ता की भला क्या शक्ति है कि वह कर्म को छोड़ दे।

अपने इस वक्तव्य से महाराज अर्जुन को यह समझाना चाहते थे कि तुम्हारे इस संग्राम में अधिष्ठान कारण दुर्योधन है। और वह भी अधिष्ठान बना है तुम्हारे ऊपर किये गये अपने अत्याचारों से। इस लिये उन अत्याचारों का चित्र सामने आते ही तुम संग्राम में विवश कूद पड़ोगे, इसे छोड़ न सकोगे।

आगे चल कर महाराज ने अर्जुन को उसकी योग्यता, अधिकार और लक्ष्य समझाने के लिये, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, कर्म, करण, कर्ता, बुद्धि और सुख का गुणों की दृष्टि से विवेचन किया है।

इस सारे विवेचन से यह भी प्रकट किया गया है कि संसार का कोई भी पदार्थ इन तीन गुणों के पञ्जे से छूट नहीं सकता, इस लिये संसार के किसी भी कार्य को मनुष्य अपने अन्तःकरण में विद्यमान प्रधान गुण की सहायता से ही कर सकता है। इस लिये किसी भी कार्य को आरम्भ करते समय उसे अपने अन्तःकरण के प्रधान गुण अथवा स्वभाव को अवश्य देख लेना चाहिये। यदि वह अपने स्वभाव के विपरीत कर्म आरम्भ कर देगा तो कदापि सफल न हो सकेगा।

इसी विषय को और भी स्पष्ट करने के लिये आगे चल कर महाराज ने वर्ण-व्यवस्था का दिग्दर्शन कराया है। चारों वर्णों और उनके कर्मों की व्यवस्था उन्होंने स्वभाव के आधार पर मानी है। यह गुणनिष्ठा का प्रकरण है, इस लिये यहां अन्तःकरण के प्रधान गुण को स्वभाव कहा है। इसी लिये "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म, स्वभाव के गुणों से विभक्त किये गये हैं" ।१८।४१।

मनुष्य अपने परिश्रम से इन तीनों गुणों में से किसी को भी प्रबल बना सकता है, इस लिये इसी जन्म में उसका स्वभाव बदल सकता है, और स्वभाव के बदल जाने से सुतरां वर्ण भी बदल सकता है। इस प्रकरण से अर्जुन को महाराज ने यह भी भली भांति समझा दिया है, कि मनुष्य नियत कर्मों को कभी छोड़ ही नहीं सकता, क्योंकि उनकी व्यवस्था स्वभाव के आधार पर की गई है और जब तक स्वभाव उस प्रकार का विद्यमान है तब तक उन कर्मों को वह कैसे छोड़ सकेगा।

मनुष्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति रूप सिद्धि है। और वह मिलती है भगवान् की उपासना

से । परन्तु उसकी उपासना का भी, स्वभाव के अनुकूल कर्मों का अनुष्ठान एक उत्तम उपाय है । अर्जुन तेरा क्षत्रिय वर्ण के अनुकूल स्वभाव है । इस समय मोह का आवरण तुझ से न लड़ने का पाठ करा रहा है । इसके हटते ही विवश तुझे अपने स्वभाव के अनुसार लड़ना ही पड़ेगा । अन्त में फिर मैं तुम्हारा ध्यान जीवन के उसी महान् उद्देश्य की ओर आकर्षित करता हूँ । सारे संसार चक्र को चलाते हुए भगवान् प्रत्येक प्राणी के हृदय मन्दिर में विद्यमान् हैं । अपने स्वभावानुकूल कर्म करते हुए पूर्ण रूप से उन्हीं की शरण में जाओ । उन्हीं की कृपा से उत्तम शान्ति और ऊँचे पद को प्राप्त करोगे।

यह मैंने गूढ़ से गूढ़ ज्ञान (विज्ञान) तुझे सुनाया है । इसे विचार कर जैसा समझ में आवे करो । मैं पूछना चाहता हूं कि अर्जुन क्या तुमने एकाग्र चित्त से मेरा कथन सुना है ? और क्या तेरा भ्रम दूर हो गया है ?

अर्जुन ने कहा, महाराज आपकी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया । अपने क्षात्रधर्म की याद आगई । अब कोई संशय शेष नहीं है । आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

अष्टादश अध्याय ।

विज्ञान योग ।

(गुणनिष्ठा)

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो, तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश, पृथक्केशिनिषूदन ।१।

अर्जुन ने कहा ।

(महाबाहो) हे बड़ी भुजाओं वाले ! (केशि-निषूदन) केशी को मारने वाले 'कृष्ण !' (संन्यासस्य-च-त्यागस्य) कर्म के त्याग-और-कर्मफल के त्याग का (पृथक्) अलग २ (तत्वम्) 'गुणों की दृष्टि से' सार वेदितुम्-इच्छामि) जानना चाहता हूं ।१।

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं, प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।२।

श्रीकृष्ण ने कहा।

(विचक्षणाः-कवयः) बुद्धिमान्-विद्वान् 'लोग' (काम्यानां-कर्मणां-न्यासम्) सकाम-कर्मों के-त्याग को (त्यागम्-विदुः) 'कर्म का' त्याग-समझते हैं। 'और' (सर्व-कर्म-फल-त्यागम्) सब-कर्मों के-फल के-त्याग को (त्यागम्-प्राहुः) त्याग-कहते हैं ।२।

त्याज्यं दोषवदित्येके, कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यमिति चापरे ।३।

(दोषवत्-कर्म-त्याज्यम्) दोषयुक्त = कामना से युक्त-कर्म को-छोड़ देना चाहिये (इति-एके-मनीषिणः-आहुः) ऐसा-कोई-विद्वान्-कहते हैं। (च-यज्ञ-दान-तपः-कर्म) और-यज्ञ-दान 'और'-तप-कर्म (न-त्याज्यम्) नहीं छोड़ने चाहिये (इति-अपरे) यह-दूसरे 'विद्वान् कहते हैं' ।३।

निश्चयं शृणु मे तत्र, त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र, त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।४।

(भरत-सत्तम) हे भरत श्रेष्ठ ! (तत्र-त्यागे) उस-त्याग के विषय में (मे-निश्चयम्-शृणु) मेरा-निश्चय-सुनो। (पुरुष-व्याघ्र) हे पुरुषसिंह ! (हि-त्यागः-त्रिविधः-

सम्प्रकीर्तितः) निश्चय ही-त्याग-तीन प्रकार का-कहा गया है ।४।

यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम् ।५।

(यज्ञ-दान-तपः-कर्म) यज्ञ-दान 'और' तप 'ये' कर्म (न-त्याज्यम्) नहीं-छोड़ने चाहिये, (तत्-कार्यम्-एव) वे-करने-ही-चाहिये । (यज्ञो-दानम्-च-एव-तपः) यज्ञ-दान-और-तप (मनीषिणाम्-पावनानि) बुद्धिमानों को-पवित्र करने वाले हैं ।५।

एतान्यपि तु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।६।

(पार्थ !) हे पृथापुत्र ! (एतानि-कर्माणि-अपि-च) इन-कर्मों को-भी (सङ्गम्-च-फलानि-त्यक्त्वा) आसक्ति-और-फलों को-छोड़ कर (कर्तव्यानि) करना चाहिये, (इति-मे-निश्चितम्-उत्तमम्-मतम्) यह-मेरा-निश्चित-श्रेष्ठ-मत है ।६।

नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागः, तामसः परिकीर्तितः ।७।

(नियतस्य-कर्मणः) 'वर्ण तथा आश्रम के अनुसार' नियत-कर्म का (त्यागः-तु-उपपद्यते-न) त्याग-युक्त-नहीं है । (तस्य-मोहात्-परित्यागः) उसका-भ्रान्ति से-त्याग (तामसः-परिकीर्तितः) तमोगुणी-कहा-गया है ।७।

दुःखमित्येव यत्कर्म, कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं, नैव त्यागफलं लभेत् ।८।

(दुःख-इति-एव) कठिन है-यह जान कर-ही (काय-क्लेश-भयात्) शरीर के-क्लेश के-भय से (यत्-कर्म) जो-कर्म (त्यजेत्) छोड़ देगा (स-राजसम्-त्यागम्-कृत्वा) वह रजोगुणी-त्याग-करके (त्याग-फलम्) त्याग के-फल को (न-एव-लभेत्) नहीं-ही-प्राप्त करेगा ।८।

कार्यमित्येव यत्कर्म, नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागःसात्विको मतः ॥

हे अर्जुन ! (संगम्-च-फलम्-त्यक्त्वा-एव) आसक्ति और-फल को-छोड़ कर ही (यत्-नियतम्-कर्म) जो-नियत-कर्म (कार्यम्-इति-एव-क्रियते) कर्तव्य है-यह समझ कर-ही-किया जाता है । (सः-सात्विकः-त्यागः-मतः) वह-सत्व गुणी-त्याग-माना गया है ।९।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म, कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।१०।

(सत्व-समाविष्टः) सत्व गुण से पूर्ण, (छिन्न-संशयः) २ संशय-१ रहित (मेधावी-त्यागी) बुद्धिमान्-त्यागी (अकुशलम्-कर्म) दुःखदायक-कर्म के साथ (न-द्वेष्टि) २ द्वेष नहीं करता । (कुशले-अनुषज्जते-न) सुखदायक 'कर्म' में आसक्त-नहीं होता ।१०।

न हि देहभृता शक्यं, त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी, स त्यागीत्यभिधीयते ।११।

(देह-भृता) देह-धारी से (अशेषतः-कर्माणि) सारे कर्म (त्यक्तुम्-नहि-शक्यम्) छोड़े-नहीं जा सकते (तु-यः कर्मफल-त्यागी) हां-जो-कर्मफलों का त्याग करने वाला है, (स-त्यागी-इति अभिधीयते) वह-त्यागी-इस नाम से-कहा जाता है ।११।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च, त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य, न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

(कर्मणः) कर्म का (अनिष्टम्-इष्टम् च-मिश्रम्) बुरा-भला-और-मिला हुआ = मध्यम अवस्था का (त्रिवि-

धम्-फलम्) तीन प्रकार का-फल 'होता है' (प्रेत्य-अत्यागिनाम्-भवति) 'वह' मृत्यु के बाद 'कर्मफल का' त्याग न करनेवालों को 'प्राप्त' होता है । (संन्यासिनाम्-क्वचित्-न) 'कर्मफल का' त्याग करने वालों को-कहीं-नहीं 'मिलता' ।१२।

पञ्चैतानि महाबाहो, कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि, सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

(महाबाहो !) हे महाभुज ! 'अर्जुन' (सर्व-कर्मणाम्-सिद्धये) सब-कर्मों की-सिद्धि के लिये (सांख्ये-कृतान्ते-प्रोक्तानि) सांख्य-सिद्धान्तों में-कहे हुए (एतानि-पञ्च-कारणानि) इन-पांच कारणों को (मे-निबोध) मुझ से-जान ।१३।

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा, दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।१४।

(अधिष्ठानम्) स्थान (तथा-कर्ता) ऐसे ही-कर्म करने वाला, (पृथक् विधम्-करणम्) भिन्न प्रकार के-साधन (च-विविधाः-पृथक्-चेष्टाः) और-अनेक प्रकार की-भिन्न २ चेष्टाएं, (च-अत्र-पञ्चमम्-दैवम्) और-इसी विषय में-पांचवां-भाग्य ।१४।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्, कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा, पञ्चैते तस्य हेतवः ।१५।

(शरीर-वाक्-मनोभिः) शरीर-वाणी 'और' मन से (नरः) मनुष्य (यत्-न्याय्यम्-वा-विपरीतम्) जो न्याय के अनुसार-या-विपरीत (कर्म-प्रारभते) कर्म-आरम्भ करता है । (एते-पञ्च-तस्य-हेतवः) ये-पांच-उसके-कारण हैं ।१५।

तत्रैवं सति कर्तारं, आत्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्, न स पश्यति दुर्मतिः।१६

(तु-तत्र-एवम्-सति) तो-इस-विषय में-ऐसा होते हुए (यः) जो (अकृत-बुद्धित्वात्) मन्द-बुद्धि होने के कारण (केवलम्-आत्मानम्-कर्तारम्-पश्यति) केवल-अपने-आपको-कर्ता-समझता है । (स-दुर्मतिः) वह-कुबुद्धि (न-पश्यति) 'कुछ' नहीं-जानता ।१६।

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् , न हन्ति न निबध्यते ।।

(यस्य-अहंकृतः-भावः-न) जिसमें-अहंकार की भावना नहीं, (यस्य-बुद्धिः-लिप्यते-न) 'और' जिसकी

बुद्धि 'फल की कामना से' लिप्त-नहीं है। (स-इमान्-लोकान्-हत्वा-अपि) वह-इन-लोकों को-मार कर-भी (निबध्यते-न) बन्धन में नहीं आता।१७।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता, त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति, त्रिविधः कर्मसंग्रहः।१८।

(ज्ञानम्-ज्ञेयम्-परिज्ञाता) ज्ञान-जानने की वस्तु 'और' जानने वाला, त्रिविधा-कर्म-चोदना) ये-तीन-कर्म के-प्रवर्तक हैं। (करणम्-कर्म-कर्ता-इति) साधन-कर्म 'और' कर्ता (त्रिविधः-कर्म-संग्रहः) 'ये' तीन-कर्म का-अनुष्ठान करने वाले हैं।१८।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च, त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने, यथावच्छृणु तान्यपि।१९।

(ज्ञानम्-कर्म-च-कर्ता) ज्ञान-कर्म-और-कर्ता (गुण-भेदतः) गुणों के-भेद से (गुण-संख्याने) गुणों का विवेचन करने वाले 'शास्त्र' में (त्रिधा-एव) तीन प्रकार के ही (प्रोच्यते) कहे जाते हैं (तानि-अपि) उनको भी (यथावत्-शृणु) ठीक ठीक-सुनो।१९।

सर्वभूतेषु येनैकं, भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु, तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्॥

(येन) जिसके द्वारा (विभक्तेषु) अलग-अलग (सर्व-भूतेषु) सब भूतों में (एकम्-अव्ययम्-भावम्) एक-अविकारी-तत्त्व 'भगवान्' को (ईक्षते) देखता है (तत्-ज्ञानम्) उस ज्ञान को (सात्विकम्-विद्धि) सत्व-गुणी जानो ।२०।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं, नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु, तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।२१।

(यत्-ज्ञानम्) जो-ज्ञान (नाना-पृथक्-विधान्) अनेक-भिन्न-प्रकार के (भावान्) पदार्थों के धर्मों को (सर्व-भूतेषु) सब-भूतों में (पृथक्त्वेन-वेत्ति) पृथक्-रूप से-जानता है। (तत्-ज्ञानम्) उस-ज्ञान को (राज-सम्) रजोगुणी (विद्धि) जानो ।२१।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्, कार्ये सक्तं अहैतुकम् ।
अतत्वार्थवदल्पं च, तत्तामसमुदाहृतम् ।२२।

(तु-यत्) परन्तु-जो 'ज्ञान' (अहैतुकम्) युक्ति से रहित (एकस्मिन्-कार्ये) एक-कार्य में (कृत्स्नवत्) समग्र 'कार्यों के झुण्ड' की तरह (सक्तम्) सम्बद्ध है = थोड़े को बहुत और एक को अनेक जनाता है। (अतत्व-अर्थ-वत्) मिथ्या-विषय वाला (च-अल्पम्) और थोड़ा है।

तत्-तामसम्-उदाहृतम्) उसे-तमोगुणी-कहा गया है ।२२।

नियतं सङ्गरहितं, अरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म, यत्तत्सात्विकमुच्यते ।२३।

(नियतम्) 'अपने वर्ण तथा आश्रम के लिये' निश्चित (संग रहितम्) आसक्ति से-रहित (यत्-कर्म) जो-कर्म (अ-राग-द्वेषतः) २ राग 'और' ३ द्वेष के १ बिना (अफल-प्रेप्सुना) फल की इच्छा न करने वाले से (कृतम्) किया गया है (तत्-सात्विकम्-उच्यते) वह-सत्वगुणी-कहा जाता है ।२३।

यत्तु कामेप्सुना कर्म, साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं, तद्राजसमुदाहृतम् ।२४।

(तु-यत्-कर्म) किन्तु-जो-कर्म (स-अहंकारेण) अहंकारी (वा-पुनः) अथवा (काम-ईप्सुना) 'फल की' कामना के-अभिलाषी से (बहुल-आयासम्) बड़े-परिश्रम से (क्रियते) किया जाता है । (तत्-राजसम्-उदाहृतम्) वह-रजोगुणी-कहा गया है ।२४।

अनुबन्धं क्षयं हिंसां, अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म, यत्तत्तामसमुच्यते ।२५।

(अनुबन्धम्-क्षयम्-हिंसाम्-पौरुषम्-च-अनपेक्ष्य) परिणाम 'धन और बल का व्यर्थ' नाश-दूसरे की पीड़ा-'और' कार्य करने की शक्ति की (अनपेक्ष्य) परवाह न कर (मोहात्) मोह से (कर्म-आरभ्यते) 'जो' कर्म-आरम्भ किया जाता है। (तत्-तामसम्-उदाहृतम्) वह-तमोगुणी-कहा गया है।२५।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः, कर्ता सात्विक उच्यते ॥

(मुक्त-सङ्गः) २ आसक्ति से-१ छूटा हुआ (अनहं-वादी) अहङ्कार की-बात न करने वाला (धृति-उत्साह-समन्वितः) धैर्य 'और' उत्साह से-युक्त (सिद्धि-असिद्धयोः) 'फल की' सिद्धि 'या' असिद्धि होने पर (निर्विकारः) विकार से रहित (कर्ता-सात्विकः-उच्यते) कर्ता-सत्वगुणी कहलाता है।२६।

रागी कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता, राजसः परिकीर्तितः।२७।

(रागी) आसक्ति से युक्त (कर्म-फल-प्रेप्सुः) कर्मों के-फल की-इच्छा करने वाला (लुब्धः) लोभी (हिंसा-त्मकः) हिंसा की भावना वाला (अशुचिः) अपवित्र

(हर्ष-शोक-अन्वितः) आनन्द 'और' शोक से-युक्त (कर्ता-राजसः-परिकीर्तितः) कर्ता-रजोगुणी-कहा गया है ।२७।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः, शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च, कर्ता तामस उच्यते ।२८।

(अयुक्तः) 'तत्पर होकर' न लगने वाला, (प्राकृतः) अज्ञानी (स्तब्धः) अकड़ा हुआ (शठः) धूर्त (नैष्कृतिकः) बदला लेने का अभ्यासी (अलसः) आलसी (विषादी) शोक करने वाला (च-दीर्घसूत्री) और-देर से काम करने वाला (कर्ता-तामसः-उच्यते) कर्ता-तमोगुणी-कहलाता है ।२८।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव, गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण, पृथक्त्वेन धनञ्जय ।२९।

(धनञ्जय) हे धन को जीतने वाले ! 'अर्जुन' (बुद्धेः-च-एव-धृतेः) बुद्धि-और-धृति के (गुणतः) गुणों के आधार पर (अशेषेण-प्रोच्यमानम्) पूर्ण रूप से-कहे जाते हुए (पृथक्त्वेन-त्रिविधम्-भेदम्) अलग २-तीन प्रकार के-भेद (शृणु) सुनो ।२९।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

(पार्थ !) हे पृथापुत्र ! (या) जो 'बुद्धि' (प्रवृत्तिम्-च-निवृत्तिम्) 'कार्य के' आरम्भ 'और' त्याग, (कार्य-अकार्ये) कर्तव्य 'और' अकर्तव्य (भय-अभये) डर-'और' निर्भयता (च-बन्धम्-मोक्षम्) और बंधन 'तथा' मुक्ति को (वेत्ति) जानती है (सा-सात्विकी बुद्धिः) वह-सत्वगुणी-बुद्धि है।३०।

यया धर्ममधर्मं च, कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी।३१।

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (यया) जिस 'बुद्धि से' (धर्मम्-च-अधर्मम्) धर्म-और-अधर्म को (कार्यम्-च-एव-अकार्यम्) कर्तव्य-और-अकर्तव्य को (अयथावत्) उलटा (विजानाति) जानता है। (सा-राजसी-बुद्धिः) वह रजोगुणी बुद्धि है।३१।

अधर्मं धर्ममिति या, मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र ! (तमसा-आवृता) 'जो' तमो-गुण से-ढकी हुई (अधर्मम्-धर्मम्-इति वा) अधर्म को-धर्म-इस नाम से (च-सर्व-अर्थान्-विपरीतान्) और-सब-विषयों को-उलटे 'ही' (मन्यते) जानती है (सा-तामसी-बुद्धिः) वह-तमोगुणी-बुद्धि है।३२।

धृत्या यया धारयते, मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या, धृतिःसा पार्थ सात्त्विकी ॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र! (यया-अव्यभिचारिण्या-धृत्या) जिस-न बदलने वाली-धारणा से (योगेन) ध्यान योग से (मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः) मन-प्राण 'और' इन्द्रियों की क्रियाओं को (धारयते) रोकता है। (सा-सात्त्विकी-धृतिः) वह-सत्वगुणी-धृति है।३३।

यया तु धर्मकामार्थान्, धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी, धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

(पार्थ-अर्जुन) हे पृथापुत्र-अर्जुन! (यया-धृत्या) जिस-धृति से (प्रसंगेन-फल-आकांक्षी) प्रसंग से-फल की इच्छा करने वाला (धर्म-काम-अर्थान्) धर्म-काम 'और' अर्थ को (धारयते) धारण करता है (सा-धृतिः-राजसी) वह-धृति-रजोगुणी है।३४।

यया स्वप्नं भयं शोकं, विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा, धृतिः सा पार्थ तामसी ।३५।

(पार्थ) हे पृथापुत्र! (दुर्मेधाः) कुबुद्धि 'पुरुष' (यया) जिस 'धृति' से (स्वप्नम्-भयम्-शोकम्-विषादम्-च-मानम्) नींद-डर-शोक-कुढ़ने के स्वभाव-और-अभिमान

को (न-विमुञ्चति) नहीं छोड़ता (सा-तामसी-धृतिः) वह-तमोगुणी-धृति है ।३५।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं, शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र, दुःखान्तं च निगच्छति ।३६।

(भरत-ऋषभ) हे भरत-श्रेष्ठ ! इदानीम्-मे-त्रिविधम्-सुखम्-शृणु) अब मुझसे-तीन प्रकार का-सुख-सुनो। (यत्र-अभ्यासात्-रमते) जिसमें 'मनुष्य' अभ्यास से-रम जाता है (च-दुःख-अन्तम्-निगच्छति) और-दुःख के नाश का-अनुभव करता है ।३६।

यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तं, आत्मबुद्धिप्रसादजम्॥

(यत्-तत्) जो-वह 'सुख' (अग्रे) आरम्भ में 'साधन कठिन होने के कारण' (विषम् इव) विष की-तरह 'और' (परिणामे) अन्त में (अमृत-उपमम्) अमृत के-तुल्य 'है'। (तत्-आत्म-बुद्धि-प्रसादजम्-सुखम्) वह-आत्मा 'और' बुद्धि की-निर्मलता से उत्पन्न होने वाला-सुख (सात्विकम्-प्रोक्तम्) सत्वगुणी-कहा है ।३७।

विषयेन्द्रियसंयोगात्, यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव, तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।३८।

(यत्-तत्) जो-सुख (विषय-इन्द्रिय-संयोगात्) विषय 'और' इन्द्रियों के-संयोग से 'उत्पन्न होने वाला' (अग्रे-अमृत-उपमम्) आरम्भ में-अमृत के-समान 'और' (परिणामे) अन्त में (विषम्-इव) विष के-समान है। (तत्-सुखम्) वह-सुख (राजसम्-स्मृतम्) रजोगुणी-माना गया है।३८।

यदग्रे चानुबन्धे च, सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थ, तत्तामसमुदाहृतम् ।३९।

(यत्-सुखम्) जो-सुख (अग्रे-च-अनुबन्धे-च) आरम्भ में-और-परिणाम में-भी (आत्मनः-मोहनम्) आत्मा को-मोह में फंसाने वाला है, 'और' (निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थम्) नींद-आलस्य 'और' 'कर्तव्य की' भूल से-उत्पन्न होने वाला है (तत्-तामसम्-उदाहृतम्) वह-तमोगुणी-कहा गया है ।३९।

न तदस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं, यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।४०।

(तत्-सत्वम्) वह-वस्तु (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (दिवि-वा-पुनः-देवेषु) द्युलोक में-या-देवताओं में (न-

अस्ति) नहीं है (यत्-एभिः-त्रिभिः-गुणैः) जो-इन-तीन-गुणों से (मुक्तं-स्यात्) बचा-हुआ हो ।४०।

तात्पर्य—इन तीन गुणों के बढ़ने और घटने से ही मनुष्यों के स्वभाव समय समय पर बदलते रहते हैं। और उन स्वभावों के आधार पर ही वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था होती है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।४१।

(परं-तप) हे शत्रु को तपाने वाले 'अर्जुन !' (ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशाम्-च-शूद्राणाम्) ब्राह्मणों-क्षत्रियों-वैश्यों-और-शूद्रों के (कर्माणि) कर्म (स्वभाव-प्रभवैः-गुणैः) स्वभाव से-उत्पन्न होने वाले-गुणों से (प्रविभक्तानि) बांटे गये हैं ।४१।

शमो दमस्तपः शौचं, क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(शमः) शान्ति (दमः) इन्द्रियों का निरोध (तपः) सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के सहने की शक्ति (शौचम्) शुद्धि (क्षान्तिः) क्षमा (आर्जवम्) सरलता (ज्ञानम्) यम और नियम का पालन (विज्ञानम्) सत्व आदि

गुणों का विवेक कर सात्विक भावों का धारण, (च-एव-आस्तिक्यम्) और-ईश्वर की सत्ता में श्रद्धा, 'ये' (स्वभावजम्) स्वभाव के अनुसार (ब्रह्म-कर्म) ब्राह्मण के-कर्म हैं ।४२।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।४३।

(शौर्यम्-तेजः-धृतिः-दाक्ष्यम्) वीरता-प्रताप-धैर्य-'और' चतुरता (च-अपि-युद्धे-अपलायनम्) और-युद्ध में-न भागना (दानम्-च-ईश्वर-भावः) दान 'और' प्रभुता (स्वभावजम्-क्षात्रं-कर्म) स्वभाव के अनुसार-क्षत्रिय के-कर्म हैं ।४३।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं, वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।४४।

(कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यम्) खेती-गोपालन 'और' व्यापार (स्वभावजम्-वैश्य-कर्म) स्वभाव के अनुसार-वैश्य के-कर्म हैं । (शूद्रस्य-अपि) शूद्र का-भी (स्वभाव-जम्-परिचर्या-आत्मकम्-कर्म) स्वभाव के अनुसार-सेवा भाव-का कर्म हैं ।४४।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः, संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं, यथा विन्दति तच्छृणु ॥

(नरः) मनुष्य (स्वे-स्वे-कर्मणि-अभिरतः) अपने-अपने-कर्म में लगा हुआ, (संसिद्धिम्-लभते) सिद्धि को-प्राप्त करता है। (स्व-कर्म-निरतः) अपने-कर्म में लगा हुआ (यथा-सिद्धिम्-विन्दति) जैसे-सिद्धि को-प्राप्त करता है (तत्-शृणु) सो-सुनो ।४५।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां, येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(यतः-भूतानाम्-प्रवृत्तिः) जिससे 'पृथिवी आदि' भूतों की-प्रवृत्ति है। (येन-इदम्-सर्वम्-ततम्) जिसने-यह-सब फैलाया है=रचा है (तम्-स्व-कर्मणा-अभि-अर्च्य) उसे-अपने-कर्म से-पूज कर (मानवः-सिद्धिम्-विन्दति) मनुष्य-सिद्धि को-प्राप्त करता है ।४६।

यदहंकारमाश्रित्य, न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते, प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

(यत्-अहंकारम्-आश्रित्य) जो अहंकार का-आश्रय लेकर (न-योत्स्ये-इति-मन्यसे) नहीं-लडूँगा-यह-समझता है (ते-व्ययसायः-मिथ्या-एव) 'यह' तेरा-व्यापार-झूठा ही है। (त्वाम्-प्रकृतिः-नियोक्ष्यति) तुझे-स्वभाव 'युद्ध में' लगावेगा ।४७।

स्वभावजेन कौन्तेय, निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात्, करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

(कौन्तेय) हे कुन्ति पुत्र ! (यत्-मोहात्-कर्तुम्-न-इच्छसि) जो-मोह से 'तमोगुण से अपने स्वभाव को भूल कर' (कर्तुम्-न-इच्छसि) करना-नहीं-चाहता । (तत्-अवशः-अपि-करिष्यसि) उसे-विवश होकर-भी-करेगा ।४८।

ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया ।४६।

हे अर्जुन ! (यन्त्र-आरूढानि) 'नियम की' कला पर-चढ़े हुए (सर्व-भूतानि) सब-तत्वों को (मायया) अपनी शक्ति से (भ्रामयन्) घुमाता हुआ (ईश्वरः) भगवान् (सर्व-भूतानाम्) सब प्राणियों के (हृत्-देशे) हृदय-स्थान में (तिष्ठति) रहता है ।४६।

तमेव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं, स्थानं प्राप्स्यासि शाश्वतम् ॥

(भारत) हे भरत सन्तान ! (सर्व-भावेन) सब भावनाओं से (तम्-एव-शरणम्-गच्छ) उसकी-ही-शरण जाओ । (तत्-प्रसादात्) उसकी-कृपा से (पराम्-शान्तिम्) उत्कृष्ट-शान्ति 'रूप' (शाश्वतम्-स्थानम्) नित्य (परान्त

काल तक स्थायी) स्थान को (प्राप्स्यसि) प्राप्त-करेगा ।५०।

इति ते ज्ञानमाख्यातं, गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु ।५१।

(मया-ते) मैंने-तुझे (इति-गुह्यात्-गुह्यतरम्) यह-गूढ़-से-गूढ़ (ज्ञानम्) ज्ञान = विज्ञान (आख्यातम्) बतलाया (एतत्-अशेषेण-विमृश्य) इसे-पूर्णरूप से-विचार कर (यथा-इच्छसि-तथा-कुरु) जैसा-चाहता है-वैसा कर ।५१।

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ, त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः, प्रनष्टस्ते धनञ्जय ।५२।

(पार्थ !) हे पृथा पुत्र ! (कच्चित्-त्वया-एतत्) क्या-तुमने-यह (एकाग्रेण-चेतसा-श्रुतम्) एकाग्र-चित्त से-सुना, (धनञ्जय) हे धन के-विजेता ! (कच्चित्-ते-अज्ञान-सम्मोहः-प्रनष्टः) क्या-तेरी-अज्ञान से हुई-भ्रान्ति-नष्ट हुई ।५२।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ।५३।

अर्जुन ने कहा।

(अच्युत) हे पतन से रहित 'कृष्ण!' (त्वत्-प्रसादात्) तुम्हारी-कृपा से (मोहः-नष्टः) भ्रान्ति-दूर हुई (स्मृतिः-लब्धा) 'अपने धर्म की' याद-आ गई। (गत-सन्देहः-स्थितः-अस्मि) २ संशय को १ दूर किये ३ खड़ा हूं। (तव-वचनम्-करिष्ये) तेरी-आज्ञा का 'पालन' करूंगा ।५३।

सञ्जय उवाच।

इत्यहं वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौष, मद्भुतं रोमहर्षणम् ।५४।

सञ्जय ने कहा।

(इति-अहम्) इस प्रकार-मैंने (महात्मनः-वासुदेवस्य-च-पार्थस्य) महात्मा-वासुदेव के-और-अर्जुन के (अद्भुतम्) आश्चर्य से भरे (रोम-हर्षणम्) रोमाञ्च को खड़ा करने वाले (इमम्-संवादम्) इस-संवाद को (अश्रौषम्) सुना ।५४।

व्यासप्रसादात् श्रुतवान्, एतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्, साक्षात्कथयतः स्वयम्॥

(अहम्-एतत्-परम्-गुह्यम्-योगम्) मैंने-इस-अत्यन्त-गूढ़-योग को (व्यास-प्रसादात्) व्यासजी की कृपा से (साक्षात्-कथयतः-योगेश्वरात्-कृष्णात्) साक्षात्-कहते हुए-योगेश्वर-कृष्ण से (स्वयम्-श्रुतवान्) अपने आप-सुना है ।५५।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिः, ध्रुवा नीतिःमतिर्मम ।५६।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां अष्टादशोऽध्यायः
समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

(यत्र-योगेश्वरः-कृष्णः) जहां-योगेश्वर-कृष्ण हैं । (यत्र-धनुर्धरः-पार्थः) 'और' जहां-धनुष-धारी-अर्जुन है (तत्र-श्रीः-विजयः-भूतिः) वहां 'ही' लक्ष्मी-विजय 'और' ऐश्वर्य है । (मम-मतिः-ध्रुवा-नीतिः) 'यह' मेरा-विचार-निश्चल-नीति है ।५६।

यह श्रीमद्भगवद्गीता का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ
यह ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

पुस्तक मिलने के पते—

(१) अध्यात्म-ग्रन्थमाला

गुरुकुल पोठोहार, पो० चोहा खालसा,
जि० रावलपिण्डी।

(२) वैदिक पुस्तकालय, मोहनलाल रोड,
लाहौर।

(३) आर्य पुस्तकालय

सरस्वती आश्रम, अस्पताल रोड,
लाहौर।

(४) म० सन्तराम

आर्य पुस्तक भण्डार, अन्दरून लोहारी दरवाज़ा,
लाहौर।